

प्रधान मंत्री की सिओल यात्रा के निहितार्थ

मार्च के अन्तिम सप्ताह में अपनी सिओल यात्रा के दौरान प्रधान मंत्री मनमोहन सिंह ने दो महत्वपूर्ण मुद्दों पर विदेशी निवेशकों को आश्वस्त किया- पहला, नाभिकीय संयंत्रों में विदेशी निवेश के लिए माहौल बनाना और दूसरा, पॉस्को के लिए किसी भी कीमत पर भूमि अधिग्रहण और नियामक मंजूरीयों की बाधा को हटाना। इस नाभिकीय सुरक्षा सम्मेलन में एक ओर प्रधान मंत्री ने विश्व समुदाय के सामने नाभिकीय खतरे को लेकर ढकोसलेबाजी की, वहीं दूसरी ओर विकसित देशों से भारत में नाभिकीय संयंत्र लगाने का आग्रह किया। जाहिर है कि प्रधान मंत्री इस सम्मेलन से भारत के लिए नाभिकीय खतरे की सौगात लेकर लौटे हैं। गौरतलब है कि साम्राज्यवादी समूह के अधिकांश देश सिर से पाँव तक नाभिकीय हथियारों से लैश हैं और उसमें थोड़ी भी कटौती करने को तैयार नहीं हैं। यही नहीं, वे जिस घातक नाभिकीय ऊर्जा को अपने देश में बढ़ावा नहीं देते, उसे भारत जैसे देशों पर थोप रहे हैं और हमारे शासक इस खतरनाक रास्ते पर बढ़ते ही जा रहे हैं।

नागासाकी और हिरोसिमा में अमरीका द्वारा परमाणु बम गिराये जाने से जितने लोग मारे गये थे, उससे कहीं ज्यादा लोग 1952 से अब तक विभिन्न परमाणु ऊर्जा संयंत्रों में हुए 99 परमाणु दुर्घटनाओं तथा रिसाव और विकिरण की असंख्य घटनाओं में धीमी मौत मारे जा चुके हैं। इन हादसों के दौरान घायल हुए लोगों की पीड़ा और आनुवंशिक रूप से प्रभावित लोगों की दुर्दशा तो अकथनीय है। आने वाली पीढ़ियाँ अनन्त काल तक इस त्रासदी से होने वाली बीमारियों का शिकार होती रहेंगी। 1957 में ब्रिटेन में विंडस्केल फायर के दौरान सैकड़ों मिल तक विकिरण फैल जाने के वर्षों बाद, आज तक लोग कैंसर जैसी महामारियों के शिकार हो रहे हैं। इसी साल सोवियत संघ के किस्तिम परमाणु हादसे में हजारों लोग इलाके से विस्थापित हुए। 1979 में अमरीका की श्री माइल आइलैण्ड परमाणु दुर्घटना इतनी भयानक थी

कि वहाँ की जनता के दबाव में सरकार ने नये परमाणु संयंत्र लगाने से तौबा कर ली और अब धीरे-धीरे अपने पुराने संयंत्र भी बन्द करने को बाध्य है। 1986 में सोवियत संघ के चेर्नोबिल परमाणु हादसे में प्लान्ट में कार्यरत 56 कर्मचारी तत्काल मारे गये और लम्बी अवधि में 9 हजार से ज्यादा लोगों ने अपने प्राण गँवाये। 1999 में जापान के टोकायमुरा में तबाही मचाते हुए परमाणु ऊर्जा संयंत्रों के हादसे 2011 में फुकुशिमा तक पहुँचे और दुनिया के सामने इन्होंने एक नया सवाल पेश किया। क्या परमाणु ऊर्जा इंसानों या धरती के समस्त जीव-जन्तुओं के लिए निरापद है? पृथ्वी के गर्त में हजारों किलोमीटर नीचे दबे इन रेडियोधर्मी पदार्थों को निकालकर कहीं इंसानियत ने अपने विनाश को तो बुलावा नहीं दिया?

परमाणु दुर्घटनाएँ कितनी जानलेवा हैं इसका अन्दाजा इस बात से लगता है कि भूकम्प और सुनामी के बाद फुकुशिमा संयंत्र दुर्घटना से प्रभावित इलाके में आज भी आपातकालीन स्थिति बनी हुई है। कोई ऐसी तकनीक नहीं कि इन दुर्घटनाओं को रोका जाय या उसके दूरगामी प्रभावों को खत्म किया जाय। साथ ही पीड़ित व्यक्ति का इलाज पारम्परिक दवाओं से सम्भव भी नहीं होता। वहाँ कर्मचारी खतरनाक परिस्थिति में काम करने को मजबूर हैं, जबकि विकिरण लगातार फैल रहा है। उस क्षेत्र की हर एक वस्तु में, यहाँ तक कि माताओं के दूध और बच्चों के पेशाब में भी रेडियोधर्मी पदार्थ पाये गये हैं। इतना ही नहीं, इन पदार्थों के खनन, परीक्षण, बिजली बनाने और नाभिकीय कचरे के भण्डारण और निबटान के दौरान लोग विकिरण की चपेट में आकर बीमारी से धीमी मौत मरते हैं। चूँकि यह कोई धमाकेदार परमाणु दुर्घटना नहीं, इसलिए इसकी कहीं कोई चर्चा भी नहीं होती।

इन दुर्घटनाओं के प्रति बढ़ती जागरूकता और प्रबल विरोध के चलते विकसित देशों ने अपने यहाँ परमाणु संयंत्रों को बन्द करना शुरू कर दिया है। सन 2025 तक आस्ट्रेलिया अपने सभी नाभिकीय विकल्पों को बन्द करने की योजना

बना चुका है। जबकि सिओल सम्मेलन से दो दिन पहले ही फुकुशिमा परमाणु संयंत्र की एक और इकाई को बन्द कर दिया गया। नाभिकीय मुद्दे पर योकोहामा घोषणापत्र में कहा गया है कि “नाभिकीय ईंधन-शृंखला यूरेनियम के खनन से लेकर कचरा निपटाने तक की जानलेवा प्रक्रिया का क्रमशः उन्मूलन करने और नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों को बन्द करने के लिए एक विश्व स्तर की मार्गदर्शक योजना तैयार करना जरूरी है। नाभिकीय ऊर्जा की “सुरक्षा का मिथक” ध्वस्त हो चुका है। नाभिकीय तकनीक कभी भी सुरक्षित नहीं रहा और यह कभी भी भारी सरकारी अनुदान के बगैर नहीं चल पाया। इसके विपरीत नवीनीकृत ऊर्जा जैसे- सौर, वायु, जल और बायोमास ऊर्जा अधिक कारगर साबित हुए हैं। अगर सरकार अपनी नीतियों के जरिये इन्हें बढ़ावा दे तो स्थानीय स्तर पर ये इस्तेमाल के लिए भरपूर मात्रा में उपलब्ध भी हैं।”

इतना सबकुछ होते हुए भी आखिर हमारे देश के शासक परमाणु संयंत्र लगाने पर क्यों अमादा हैं? प्रधान मंत्री विकसित देशों को प्राणघातक तकनीक के साथ आमंत्रित करने के लिए इतने बेचैन क्यों हैं?

अपनी परमाणु विजय यात्रा में प्रधान मंत्री ने देश के गणमान्य नागरिकों, परमाणु वैज्ञानिकों और सैकड़ों बुद्धिजीवियों- पत्रकारों के विरोध को दरकिनार कर दिया है। यहाँ तक कि सरकार नाभिकीय संयंत्र के खिलाफ कुडानकुलम और जैतापुर में शान्तिपूर्ण विरोध कर रही स्थानीय जनता का दमन कर रही है। सबसे चिन्ताजनक बात तो यह है कि हमारे देश की मीडिया ने इन गम्भीर सवालियों पर चुप्पी साध रखी है।

सिओल यात्रा के दौरान परमाणु सुरक्षा सम्मेलन से इतर प्रधान मंत्री ने लगे हाथ एक और काम निबटया। उन्होंने वहाँ के पूँजीपतियों को विश्वास दिलाया कि “हमारी प्रक्रिया भले ही धीमी है, लेकिन हमारे देश में मतभेदों से निपटने के कारगर उपाय और कड़े कानूनी तौर-तरीके हैं।” उन्होंने आश्चर्य किया कि “सरकार पाँस्को परियोजना को आगे बढ़ाने के लिए तैयार है और इस दिशा में कुछ प्रगति भी हुई है।” उल्लेखनीय है कि भूमि अधिग्रहण और खुद सरकारी विभागों की ओर से नियामक मंजूरीयों में रुकावट के चलते ओडिशा के जगतसिंहपुर में पाँस्को कम्पनी द्वारा 52 हजार करोड़ के निवेश से इस्पात कारखाना लगाने की योजना अधर में लटकी हुई है। अन्यायपूर्ण भूमि अधिग्रहण के खिलाफ

पिछले 6 साल से वहाँ के आदिवासी और किसान बर्बर सरकारी दमन का मुकाबला करते हुए आन्दोलन कर रहे हैं। उनकी चिन्ताएँ वाजिब हैं, क्योंकि यह उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। एक ओर जंगलों और पहाड़ों से खनिज का दोहन किये जाने के चलते आदिवासियों का अपनी जगह-जमीन से उजड़ना तय है, वहीं दूसरी ओर इन विदेशी कम्पनियों द्वारा उस पूरे इलाके के पर्यावरण का विनाश भी सुनिश्चित है। यही कारण है कि पहले पर्यावरण मंत्रालय ने पाँस्को परियोजना को मंजूरी नहीं दी थी। लेकिन अपने मन्त्रिमण्डल के विरोध और प्रबल जनान्दोलन के बावजूद सरकार किसी भी कीमत पर पाँस्को परियोजना लागू करवाने पर अमादा है। सच्चाई यह है कि दक्षिण कोरिया की पाँस्को कम्पनी पर असली मालिकाना अमरीकी कम्पनियों का है। 90 के दशक में दक्षिण कोरिया में जो आर्थिक तबाही आयी थी, उसी दौरान अमरीकी कम्पनियों ने इस कम्पनी को कौड़ियों के मोल खरीद लिया था। एशियाई मुखौटा भले ही हो, लेकिन दरअसल इस सौदे के पीछे अमरीका खड़ा है।

निवेशकों की चिन्ताओं को दूर करने और देश में व्यापारिक माहौल बेहतर बनाने से सरकार का क्या अभिप्राय है? यही कि भूमि अधिग्रहण के लिए वह किसी भी हद तक जाकर अपनी जनता का दमन करेगी, जैसा अब तक करती आयी है। नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक (कैंग) ने अपनी ताजा रिपोर्ट में बताया है कि उड़ीसा सरकार ने जमीन कब्जा करने के मामले में भूमि अधिग्रहण कानून की धज्जी उड़ायी है। पाँस्को (जगतसिंहपुर), वेदान्ता एल्युमीनियम, भूषण पावर एण्ड स्टील और विराज स्टील एण्ड एनर्जी (सम्भलपुर) सहित कई देशी-विदेशी कम्पनियों के लिए जमीन अधिग्रहण में घपला किया गया। कैंग की रिपोर्ट के मुताबिक 2002 से 2011 के बीच वहाँ किसानों से 4967.08 एकड़ जमीन छीना गया। ऐसे 85 मामलों में भूमि अधिग्रहण से सम्बन्धित किसी भी निर्देश का पालन नहीं किया गया। क्या सरकार के लिए इन रिपोर्टों की कोई कीमत नहीं?

इस तरह इस सम्मेलन में पाँस्को की मंजूरी और नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र को हर कीमत पर अपनाने का मुद्दा छाया रहा। ये कदम भारत के लिए नहीं, बल्कि संकटग्रस्त वैश्विक पूँजी की प्राथमिकताओं के अनुकूल है। अपने बजट भाषण में वित्तमंत्री पहले भी कह चुके हैं कि दुनिया की

आर्थिक मन्दी दूर करने में हमारी भूमिका महत्वपूर्ण है। शायद इसी जिम्मेदारी का निर्वाह करते हुए सरकार हर कीमत पर विदेशी पूँजी को बढ़ावा दे रही है। आज मन्दी की मार झेल रहे दुनिया के पूँजीपति भारत में नाभिकीय ऊर्जा में पूँजी निवेश की नयी सम्भावना देख रहे हैं और हमारे शासक उनकी समस्या हल करने के लिए अपने देश की जनता पर मुसीबत लाद रहे हैं। सरकार का यह रवैया जनता की जिन्दगी के साथ खिलवाड़ और मौत की सौदागरी है।

नवउदारवाद को अंगीकार करने के बाद से ही प्रधान मंत्री की राजनयिक यात्राओं की गरिमा में गिरावट आयी है और उनका स्तर आर्थिक प्रतिनिधि मण्डल के बराबर पहुँच गया है। उन देशों की सरकार से वार्ता करने के बजाय वे सीधे वहाँ के पूँजीपतियों और बहुराष्ट्रीय निगमों के शीर्ष

अधिकारियों से मिलते हैं और अपने देश के समग्र हितों के बजाय मुट्ठीभर धनी वर्ग की जरूरतों के हिसाब से आर्थिक सौदों पर दस्तखत करते हैं। यह आर्थिक नवउपनिवेशवाद की लाक्षणिक विशेषता है। हमारे देश के शासक विदेशी पूँजीपतियों के साथ साँठ-गाँठ करके देश को लूट रहे हैं। उन्हें अपनी जनता के जान माल, लोकतन्त्र, संविधान और कानून की कोई परवाह नहीं है। वे वैश्विक पूँजी के उस मानवद्रोही विजयोन्माद के सहयोगी बने हुए हैं जो विश्व जनगण की लहलुहान छाती के ऊपर से होकर गुजर रही है। लेकिन दुनिया हमेशा मुट्ठीभर शासकों की मर्जी से नहीं चलती। वह दिन दूर नहीं, जब दुनिया की जनता अश्वमेध के उनके घोड़ों की रास थाम लेगी। दुनियाभर में जनसंघर्षों की नयी लहर इस बात का संकेत है।

एशिया जाग उठा

यह एशिया की ज़मीं, तमहुन की कोख, तहज़ीब का वतन है
जबों पे तारों का ताज, पैरों में झाग की झाँझनों का नगमा
ज़मीन-सदियों पुराने हाथों में अपने लकड़ी के हल सँभाले
गरीब मज़दूर, जलती आँखें
उचाट नींदों की तलख़ रातें
थके हुए हाथ, भाप का ज़ोर, गर्म फ़ौलाद की रवानी
जहाज़, मल्लाह, गीत, तूफ़ान
कुम्हार, लोहार, चाक, बरतन
ग्वालनें दूध में नहायी
अलावों के गिर्द बूढ़े अफसाना-गो, कहानी
जवान माँओं की गोद में नन्हे-नन्हे बच्चों के भोले चेहरे
लहकते मैदान, गायेँ, भैंसें
फज़ाओं में बाँसुरी का लहरा
हरी-भरी खेतियों में शीशे की चूड़ियाँ खनखना रही हैं
उदास सहरा पयम्बरों की तरह से ख़ामोश और गम्भीर
खजूर के पेड़ बाल खोले
दफों की आवाज़ ढोलकों की गमक
समन्दर के कहकहे नारियल के पेड़ों की सर्द आहें

यह एशिया है, जवान, शादाब और धनवान एशिया है
कि जिसके निर्धन गरीब बच्चों को भूक के नाग डस रहे हैं
वो होंट जो माँ के दूध के बाद फिर न वाकिफ़ हुए
कभी दूध के मजे से
जबानें ऐसी जिन्होंने चक्खा नहीं है, गेहूँ की रोटियों को
वह पीठ जिसने सफेद कपड़ा छुआ नहीं है
वो उँगलियाँ जो किताब से मस नहीं हुई हैं
वो पैर जो बूट और स्लीपर की शक्त पहचानते नहीं हैं
वो सर जो तकियों की नर्म लज्जत से बेख़बर हैं
वो पेट जो भूक ही को भोजन समझ रहे हैं
ये नादरे-रोज़गार इंसानें
तुम्हें फकत एशिया की जन्नत ही में मिलेंगे
जो तीन सौ साल के 'तमहुन' के बाद भी 'जानवर' रहे हैं
कहाँ हो 'तहज़ीब और तमहुन' की रोशनी लेके आनेवालो
तुम्हारी 'तहज़ीब' की नुमाइश है एशिया में

-अली सरदार जाफरी
(एशिया जाग उठा का एक अंश)

पाँच राज्यों में चुनाव

—महेश त्यागी

देश के पाँच राज्यों में चुनाव के परिणाम आ चुके हैं। सारे देश में अखबार, रेडियो, टीवी, फिल्मी हस्तियाँ, सरकार और साहित्यकार चुनाव के दौरान धुँआधार प्रचार करते रहे कि लोकतंत्र के इस महायज्ञ में वोटों की आहुति देना क्यों जरूरी है। छात्र-छात्राओं और प्राथमिक विद्यालयों के अबोध बच्चों तक के हाथों में “वोट जरूर दें” कि तख्तियाँ लिये गाँवों और शहरों में रैलियाँ निकाली गयीं।

क्या लोगों को अपने वोट की अहमियत और लोकतंत्र की असिलयत का पता नहीं है?

पुराने समय में अशिक्षित लोग भी बिना किसी प्रचार-प्रसार चुनावी हल्ला-हंगामों के मतदान वाले दिन सामुहिक त्यौहार की तरह महिलाओं और बच्चों सहित अपना वोट डालने जाते थे। लेकिन आज लोग वोट क्यों नहीं डालना चाहते और उनका विश्वास इस लोकतंत्र से क्यों उठता जा रहा है। इसके दो कारण हैं। पहला, नयी आर्थिक नीतियों के चलते देश में एक ऐसा नवधनाढ्य वर्ग पैदा हुआ है जो अपने जीवन में स्वर्ग का आनन्द उठा रहा है। इस वर्ग की जरूरत को ध्यान में रखकर हमारे शासन अपनी नीतियाँ बनाते हैं और इन्हीं के विकास को देश विकास बताते हैं। जब बिना वोट डाले ही, इन्हें सबकुछ मिलता है तो वे भला क्यों वोट डालने के लिए अपने स्वर्ग से बाहर निकलें।

दूसरी ओर मात्र 20 रुपये रोज पर गुजारा करने वाले देश की 80 प्रतिशत जनता भुखमरी, महँगाई, बेरोजगारी, बीमारी और घोर अपमान की जिन्दगी जी रही है। उदारीकरण, निजीकरण की नीतियों ने देश की बहुत बड़ी आबादी को निरासा और लाचारी की ओर धकेल दिया है सरकार और नेताओं से इनका मोहभंग हो चुका है, फिर ये किसको वोट दें?

राजनीति आज बड़े माफियाओं, गुण्डों, भ्रष्टाचारियों और धनकुबेरों का पेशा बन गयी है। तरह-तरह के छल प्रपंच और अपने मनमाफिक नीतियों के जरिये इस देश को लूट रहे हैं। जनता को साफ-साफ यह संदेश भी दिया जा रहा है कि इन्हीं अपराधियों के लट्टतन्त्र और धनतन्त्र से ही सरकार

बनेगी। इस लट्टतन्त्र को मजबूत बनाने के लिए आप हर पाँच साल बाद वोट जरूर डालिये। बड़े प्यार से वे रंगीन विज्ञापनों के जरिए वोट डालने का महत्त्व समझा रहे हैं। और तो और अब अनिवार्य वोट का कानून बनाकर वोट न डालना अपराध घोषित करने की भी चर्चा करने लगे हैं।

दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में लट्टतन्त्र और धनतन्त्र का बढ़ता दबदबा देखिए— आन्ध्र प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री जगमोहन रेड्डी ने पिछले साल 2.9 लाख रुपये आयकर जमा किया था। इस साल उन्होंने सिर्फ 6 महीने का आयकर 6.6 करोड़ रुपये जमा किया है। इस हिसाब से पिछले साल इनकी सफेद कमाई लगभग 10 लाख रुपये थी जो इस साल बढ़कर 70 करोड़ रुपये हो गयी। जरा सोचिए क्या इमानदारी से किये गये किसी भी व्यापार से आमदनी में 70 हजार प्रतिशत की वृद्धि हो सकती है? इसी तरह मायावती की सम्पत्ति में बढ़ोत्तरी अब किसी से छिपी नहीं है। पिछले साल वे देश भर में सबसे अधिक आयकर जमा करने वाली नेता थीं।

विजय माल्या और नवीन जिन्दल जैसे पूँजीपति पहले राजनीति और चुनाव में अपना पैसा लगाते थे ताकि नेताओं की मदद से मन माफिक नीतियाँ पास करवा सकें। अब वे खुद ही संसद में पहुँचने लगे हैं। यही कारण है कि आज लोक सभा में 300 से अधिक करोड़पति सांसद हैं। देश की राजनीति अब इन अरब-खरबपति धन कुबेरों की मुट्ठी में है।

इलेक्सन वॉच और नेशनल इलेक्सन वॉच जैसे संगठनों ने उत्तर प्रदेश चुनाव के सभी पाँचों चरणों में 1503 उम्मीदवारों के सपथपत्रों का अध्ययन करके रिपोर्ट दिया। उस रिपोर्ट के मुताबिक 526 उम्मीदवार अपराधी और 663 करोड़पति थे। उत्तर प्रदेश के चुनावी अखाड़े में रीयल स्टेट कारोबारियों, खनन माफियाओं, शराब माफियाओं, सट्टेबाजों, केबल नेटवर्क और टावर कम्पनियों तथा कुछ बड़े उद्योगपतियों-व्यापारियों की तरफ से नोटों की भारी वर्षा हुई। जबकि चुनाव आयोग इनका बाल बाँका नहीं कर सका। सिर्फ छोटे-मोटे खिलाड़ियों को पकड़ने और रूपयों के थैले या शराब की बोतलें जब्त करने में ही व्यस्त रहा।

खुद को पाक साफ बताने वाली सभी प्रमुख पार्टियों ने जघन्य अपराधियों और करोड़पतियों को बड़ी संख्या में चुनावी मैदान में उतारा। क्या इन्होंने अपराधियों को जनता की सहमति से चुनाव मैदान में उतरा है? नहीं, बल्कि सभी पार्टियाँ एकतरफा और मनमाने तरीके से उन्हें हमारे ऊपर थोपती हैं। फिर कहा जाता है कि इन में से किसी एक के चेहरे पर ठप्पा लगाकर अपने लोकतांत्रिक

अधिकार का इस्तेमाल करो और फिर अगले पाँच सालों तक इन्हें बर्दाश्त करो क्योंकि तुम्हीं ने तो इन्हें चुनकर भेजा है।

हमारे यहाँ लोकतंत्र में वंशवाद भी खूब फल-फूल रहा है। पेट्रिक फ्रेन्च की पुस्तक “इण्डिया ए पोर्ट्रेट” में पिछले लोकसभा चुनाव में निर्वाचित लोकसभा सदस्यों के पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में यह बताया गया है कि काँग्रेस के 208 में से 78 सांसद अपने माता-पिता या दादा-दादी की वजह से संसद में काबिज हैं। अजीत सिंह रालोद के पाँचो सांसद और शरद पवार की पार्टी 9 में से

7 सांसद खानदानी हैं। इस संसद में दूसरी-तीसरी पीढ़ी के युवा सांसदों पर एक पत्रिका ने विशेषांक निकाला था, जिसमें दर्जनों की संख्या में नेताओं की संतानों का लेखा-जोखा लिया गया था।

राजनीतिक पार्टियों में अब कोई खास अन्तर नहीं रह गया है। सभी दल भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे हुए हैं। सभी खुलकर क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता और जातिवाद के हथियारों का खुलकर इस्तेमाल कर रही हैं। देश का विनाश करने वाली आर्थिक

नीतियों पर इन सब की आम सहमति है। पार्टियों की इसी राजनीतिक एकरूपता ने मौजूदा लोकतंत्र में वोट डालने वाली जनता को विकल्पहीनता की विचित्र स्थिति में पहुँचा दिया है। चुनाव में चुनने के लिए उनके पास आदर्शहीन, पदलोलुप, चरमस्वार्थी और दागी नेताओं के अलावा कोई विकल्प नहीं होता। सरकारें बदलती हैं, लेकिन देश की जनता के हालात नहीं बदलते।

किसानों, मजदूरों, छोटे दुकानदारों और मेहनतकश जनता क्या इसीलिए वोट दे कि वे देशी-विदेशी पूँजी को हर तरह की छूट देकर देश की मेहनतकश जनता का खून निचोड़े और निजीकरण करके हर तरह की सहूलियतों से इन्हें वंचित कर दें।

उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी की सरकार बन गयी। लोगों को बेइन्तहा गुंडागर्दी झेलने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसकी शुरुआत हो गयी है। अपने टीईटी की परीक्षा निरस्त होने का विरोध करने वाले नौजवानों को सरकार ने बेशर्मी से पुलिस दमन का शिकार

बनाया। क्या नयी सरकार के आने से बदतर होती शिक्षा और स्वास्थ्य सेवएँ, बेरोजगारी और महँगाई पर कोई फर्क पड़ेगा? सपा ने ऐसा कोई चुनावी वादा भी नहीं किया है। वह चाहती है कि बेरोजगार बने रहें और उन्हें बेरोजगारी भत्ते के रूप में भीख दी जाती रहे।

पाँचों राज्यों में चुनाव जीतने वाली पार्टियों के नेता और कार्यकर्ता खुशियाँ मना रहे हैं, जबकि लोग इन रहनुमाओं से निराशा होने के बावजूद उम्मीद लगाये बैठे हैं कि शायद

विधायकों की सम्पत्ति में उछाल

उत्तर प्रदेश चुनाव निगरानी संस्था के एक सर्वे के अनुसार पिछली बार विधायक रहे और दोबारा चुनाव लड़ रहे प्रत्याशियों की सम्पत्ति में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। सर्वे के अनुसार पाँच सालों के कार्यकाल के दौरान सबकी सम्पत्ति में औसतन 1.61 करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी हुई है। इनमें 34 की सम्पत्ति औसतन 2.47 करोड़ बढ़ी है। मजे कि बात यह है कि यह आँकड़े उन्हीं के द्वारा 2007 और 2012 में प्रस्तुत हलफनामों पर आधारित हैं। यह जगजाहिर है कि तीन-तिकड़म करके ये अपनी सम्पत्ति छुपाते हैं और इसके बाद भी जो सम्पत्ति छुपा नहीं पाते, वही इन हलफनामों में दर्शाते हैं। जाहिर है कि हकीकत और भी भयावह है।

ये हैं हमारे लोकतंत्र के पहरेदार। चुनाव में झूठे वादे करके और जाति-धर्म के नाम पर वोट लेते हैं। लेकिन इनकी न कोई जाति है और न ही धर्म। जनता को लूटकर अपनी तिजोरी भरना ही इनका ईमान है। चाहे ये किसी भी पार्टी के हों। इनके लिए राजनीति एक मुफीद धंधा बन गया है। जिसमें कमाई ही कमाई है, घाटा लगने का सवाल ही नहीं उठता। जबतक लोकतंत्र के ऐसे रक्षक और जनता के हितों के ऐसे भक्षक रहेंगे, तब तक जनता के नसीब में दुख ही होगा।

अब कुछ हो। लेकिन सबको पता है कि कोई चमत्कार नहीं होगा। जो जेल में थे, आज वही जेल मंत्री हैं। सपा में ऊपर से नीचे तक अपराधी पृष्ठभूमि के लोगों की भरमार होने की खबरों से अखबार भरे पड़े हैं। सपा नेतृत्व ने आतंकवाद विरोधी केन्द्र बनाने के मुद्दे पर संसद में भ्रष्टाचार के आरोपों के दलदल में धँसी केन्द्र सरकार के साथ गलबहियाँ डालकर अपना नकली काँग्रेस विरोधी चोला उतार फेंका। सरकार बनाने

के चंद दिनों के भीतर ही बेरोजगारों का बर्बर दमन किया। अगर अब भी उम्मीद है, तो यह हमें खुद को नाउम्मीदी के दलदल में गिराने वाला साबित होगा। सच तो यह है कि लोकतंत्र एक तमाशा बन चुका है। एक सही विकल्प की तलाश और उसे जमीन पर उतारने की दिशा में आगे बढ़ने के अलावा अब कोई और रास्ता नहीं।

मुख्य चुनाव आयोग का बयान : चुनाव भ्रष्टाचार का बड़ा स्रोत

पाँच राज्यों में चुनावों के दौरान मुख्य चुनाव आयुक्त एस. वाई. कुरैशी ने कहा कि- चुनाव भ्रष्टाचार का बड़ा स्रोत है। उनका कहना था कि जब एक उम्मीदवार चुनाव में जीतने के लिए 5 से 10 करोड़ रुपये खर्च करेगा तो उसकी सबसे पहली चिंता यही होगी कि सरकारी मशीनरी उसका चुनाव खर्च पूरा करने में कैसे उसकी सहायता करेगी। कुरैशी ने कम मतदान पर भी अपनी चिंता जतायी। उनका कहना था कि चुनाव में 30 प्रतिशत तक मतदान होता है और उनमें से कई उम्मीदवार 12 प्रतिशत मत पाकर ही जीत जाते हैं। इससे प्रतिनिधि की गुणवत्ता तथा कानूनी वैधता दोनों ही प्रभावित होती हैं।

इलाज के तौर पर मुख्य चुनाव आयुक्त ने अधिक से अधिक मतदान करने और मतदाताओं को चुनावों के प्रति जागरूक करने पर जोर दिया। उनका कहना था कि आज लोग भ्रष्टाचारी नेताओं की शिकायत करते हैं, फिर भी वोट देना न छोड़ें और उनमें से ही किसी बेहतर उम्मीदवार (भ्रष्टाचारी नेता) को चुनें। ('द हिन्दू', 24 जनवरी 2012)

मुख्य चुनाव आयुक्त का यह मनाना कि महज वोट डालने और वोट प्रतिशत बढ़ा देने से ही सभी समस्याओं का समाधान हो जायेगा, कहाँ तक तर्कसंगत है? खुद उनकी भूमिका खेल के एक रेफरी जैसी है जो इस चुनावी खेल में केवल हार-जीत का फैसला देता है। सच तो यह कि वे सामान्य लोगों से अपील कर रहे हैं कि इन्हें भ्रष्ट में

से कम भ्रष्ट, अपराधियों में से कम अपराधी और दगाबाजों में से कम दगाबाज को किसी तरह सत्ता के गलियारा में पहुँचा दे, ताकि लोकतंत्र का यह तमाशा चलता रहे। वे सतही समाधान सुझा रहे हैं, लेकिन यह सोचना नहीं चाहते कि आज देश के ज्यादातर मतदाताओं को वोट डालने में रुचि क्यों नहीं है। चुनावों में लगातार भ्रष्टाचार क्यों बढ़ता जा रहा है।

जिस देश की 83 करोड़ जनता 20 रुपये रोज पर गुजरा करती हो, 76 प्रतिशत लोगों को भरपेट भोजन तक नसीब न हो तो इन बदहाल करोड़ों लोगों से यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वे इस चुनावी महाकुम्भ में स्नान करें और अपनी दुर्दशा के जिम्मेदार लोगों को अपनी छाती पर बिठाते रहें। जो 60 प्रतिशत मतदान हो रहा वह भी लोकतंत्र में जनता की आस्था के कारण नहीं, बल्कि भ्रष्टाचारी, अवसरवादी नेताओं द्वारा अपनाये गये हथकण्डों, गुण्डागर्दी, काले धन की कमाई, नोट और शराब आदि की गरिमा है। आज सामाजिक और आर्थिक असमानता लगातार बढ़ती जा रही है। मुट्ठी भर लोगों के पास असीम सम्पत्ति है, जबकि बहुसंख्यक आबादी बहुत गरीब है, जिससे लोकतंत्र केवल मुट्ठी भर लोगों की सानो-सौकत और धन-दौलत बटोरने का जरिया बन गया है। चुनाव उसके सबसे बड़े स्रोतों में से एक है। सही लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना तभी हो सकती है जब सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में गैर बराबरी को समाप्त किया जाये।

भारत में मानवाधिकार की बिगड़ती हालत

-सतीश

वर्ल्ड ह्यूमन राइट वाच की रिपोर्ट 2012 में भारत की आन्तरिक स्थिति का जायजा लेते हुए बताया गया है कि दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र होने, एक जीवन्त मीडिया, सक्रिय सभ्य समाज और सम्मानित न्याय पालिका के होते हुए भी मानव अधिकारों के हनन के मामलों में भारत बहुत बुरी स्थिति में है। रिपोर्ट के अनुसार हर साल की तरह 2011 में भी हिरासत में मौत, पुलिस द्वारा बदसलूकी और उत्पीड़न, लोगों के जान-माल की हिफाजत करने में कानून का अप्रभावी होना, भारत की दुर्दशा को दिखाते हैं। जम्मू और कश्मीर, उत्तर-पूर्व और माओवाद प्रभावित इलाकों में आज भी सुरक्षा बलों को जघन्यतम अपराध के लिए दण्डित नहीं किया जाना जारी है।

रिपोर्ट के अनुसार भारत सरकार मानवाधिकार की सुरक्षा का दायित्व निभाने में असफल साबित हुई है। कई बर्बर कानून अब भी मौजूद हैं जो मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वालों को पूरा अभयदान देते हैं। और मानवाधिकार हनन के कई गम्भीर मामलों में भारत सरकार दोषियों को सजा देने में नाकाम रही है। देश के अशान्त क्षेत्रों में अमानवीय कानून एएफएसपीए अब भी मौजूद है और तमाम संगठनों और सरकार द्वारा नियुक्त कई आयोगों के बार-बार कहने के बावजूद इस कानून को वापस नहीं लिया गया। यह कानून सुरक्षाबलों को इन असान्त क्षेत्रों में असीम अधिकार देती है जिनका दुरुपयोग वे दमन, उत्पीड़न, हत्या और बलात्कार के रूप में करते हैं। गृहमंत्री पी चिदंबरम के अनुसार सरकार इस कानून को खत्म करने के लिए आम सहमति बना रही है, लेकिन अभी तक इस दिशा में कोई ठोस कार्रवाई नहीं की गयी है।

जम्मू-कश्मीर में मानवाधिकारों की हालत तो और भी खराब है। दो दशकों में वहाँ हजारों लोग लापता हो गये हैं और वे कहाँ हैं, इसकी खबर किसी को नहीं है। जम्मू-कश्मीर राज्य मानवाधिकार आयोग द्वारा कराये गये एक पुलिस तहकीकात में 38 अलग-अलग जगहों पर गुमनाम कब्रों में 2,730 लाशें मिली हैं, अब तक इनमें से 574 लाशों की

शिनाख्त कश्मीर के स्थानीय निवासियों के रूप में हुई है। जम्मू-कश्मीर सरकार ने निष्पक्ष जाँच का वादा किया है, लेकिन उसने जाँच में सेना और अर्द्धसैनिक बलों का सहयोग लेना जरूरी बताया है, जबकि सेना और अर्द्धसैनिक बलों को जो अभयदान मिला हुआ है उसके चलते अक्सर वे निष्पक्ष जाँच में अड़ंगा ही लगाते रहे हैं।

माओवाद प्रभावित 10 राज्यों में हिंसा और प्रतिहिंसा में सैकड़ों लोग मारे गये। न्यायपालिका के आदेश के बावजूद उन इलाकों में सुरक्षा बलों द्वारा अपनी मोर्चेबन्दी के लिए स्कूलों का इस्तेमाल नहीं रोका गया है। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के अनुसार माओवादियों और सुरक्षाबलों दोनों द्वारा मनमानी गिरफ्तारी, उत्पीड़न और हत्याएँ की जाती हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक महत्वपूर्ण फैसले में छत्तीसगढ़ सरकार पर माओवादियों के खिलाफ लड़ने के लिए आम आदिवासी जनता के बीच से बिना प्रशिक्षित विशिष्ट पुलिस अधिकारियों की तैनाती और सलवा जुडुम के गठन को असंवैधानिक करार दिया है जबकि अप्रत्यक्ष रूप से वहाँ ऐसी कार्रवाइयाँ जारी हैं।

रिपोर्ट के अनुसार भारत-बांग्लादेश सीमा पर पिछले 10 सालों में सीमा सुरक्षा बलों द्वारा 900 भारतीयों और बांग्लादेशियों की हत्याएँ की गयी हैं। 2011 में भारत सरकार के एक आदेश के तहत सीमा सुरक्षाबलों के जवानों के द्वारा रबर की गोलियों का सीमित इस्तेमाल करने से सम्बन्धित कानून बनाया गया। इससे हत्याओं की संख्या कम तो हुई, लेकिन वे अभी भी जारी हैं। गैर कानूनी कार्रवाइयों जैसे जानवरों और नशीली वस्तुओं की तस्करी रोकने के नाम पर सीमा सुरक्षा बलों के जवानों द्वारा सीमावर्ती इलाके के निवासियों का उत्पीड़न और हत्या तक की जाती है। आज तक सीमा सुरक्षा बल के किसी भी जवान पर कोई मुकद्मा नहीं चलाया गया है।

2005 में सूचना का अधिकार कानून बनने के बाद से नागरिकों और सूचना अधिकार कार्यकर्ताओं की हत्याएँ बढ़ती जा रही हैं। ये कार्यकर्ता सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार को बेनकाब करने तथा पारदर्शिता और उत्तरदायित्व के लिए

कानूनी लड़ाई लड़ते हैं। एक्शन सेन्टर फॉर ह्यूमन राइट्स के अनुसार पिछले दो साल में 12 सूचना कार्यकर्ताओं की हत्याएँ और कई लोगों पर हमले किये गये हैं।

सुरक्षा एवं खुफिया विभागों द्वारा बिना वारण्ट लोगों को गिरफ्तार करना, गैरकानूनी रूप से हिरासत में रखना तथा जानकारी हासिल करने और अपराध कबूल करवाने के लिए थर्ड डिग्री का इस्तेमाल करना लोगों के उत्पीड़न को बढ़ाता जा रहा है।

2011 की जनगणना के अनुसार महिला और पुरुष लिंगानुपात में कमी आयी है जो नारी सशक्तिकरण के दावों की पोल खोलती है। 2011 में बलात्कार और महिलाओं की खरीद-फरोख्त की ढेरों घटनाओं ने देश को हिला कर रख दिया। पर इनको रोकने के लिए कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया गया। मातृ सुरक्षा योजनाओं की हालत भी खस्ता है। मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में तो प्रसवकालीन मृत्यु की खबरों की बाढ़ सी आ गयी है। सरकार द्वारा सस्ती, सुरक्षित और प्रभावी दर्द निवारक दवाओं को उपलब्ध न करा पाने के कारण लोग असह्य पीड़ा झेल रहे हैं।

संयुक्त राज्य के मानवाधिकार सुरक्षा परिषद का सदस्य होने के नाते भारत एक आदर्श नीति अपनाने के लिए बचनबद्ध है। लेकिन श्रीलंका, वर्मा, सीरिया और सूडान में होने वाले मानवाधिकारों के कुख्यात हनन पर भारत चुप्पी साधे रहा।

पड़ोसी देशों के साथ उसका सम्बन्ध भी चीन और अमरीका के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्धों से प्रभावित होता है। अमरीका और यूरोपीय संघ निजी तौर पर भारत से अपने देश में मानवाधिकार की स्थिति सुधारने का आग्रह करते पर परन्तु रूप में कोई कुछ नहीं कहता।

मानवाधिकारों के उल्लंघन की इस दिनों-दिन बिगड़ती हालत के पीछे केवल कानून और व्यवस्था की दिक्कत नहीं, बल्कि यह भारतीय समाज का ढाँचागत संकट है। बढ़ते शोषण, असमानता और जनता की बढ़ती दुर्दशा के साथ-साथ उनका गुस्सा और विरोध भी बढ़ता जा रहा है, क्योंकि भारत के शासक जनता की समस्याओं को हल करने और बहुसंख्य आबादी को सम्मानजनक जिन्दगी दे पाने में पूरी तरह असफल साबित हुए हैं। जाहिर है कि शोषण तंत्र को कायम रखने के लिए उत्पीड़न तन्त्र दिनों-दिन अमानवीय और क्रूर होता जा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया में जनक्रोश का बढ़ते जाना लाजमी है। मानवाधिकार के प्रति चिन्ता जताने वाली संस्थाओं की चिन्ता भी यही है कि शासक वर्ग अपने रवैये में बदलाव लाये, ताकि यह अन्यायपूर्ण व्यवस्था दीर्घजीवी हो, क्योंकि ये अदूरदर्शी शासक जिस रास्ते पर चल रहे हैं वह उनके लिए घातक है। दमन उत्पीड़न के भरोसे कोई भी व्यवस्था लम्बे समय तक कायम नहीं रह सकती, यह तय है।

लघुकथा: वीरता

राजा जालिम था। वह जनता पर बड़ा अन्याय करता था और जनता अन्याय सहती थी, क्योंकि जनता को न्याय के बारे में कुछ मालूम नहीं था।

राजा को ऐसे सिपाही रखने का शौक था, जो बेहद वफादार हो। बेहद वफादार सिपाही रखने का शौक उन्हीं को होता है, जो बुनियादी तौर पर जालिम और कमीने होते हैं। और राजा को हमेशा से डर लगा रहता था कि उसके सिपाही वफादार नहीं हैं और वह अपने सिपाहियों की वफादारी का लगातार इम्तिहान लिया करता था। एक दिन उसने अपने एक सिपाही से कहा कि अपना एक हाथ काट डालो। सिपाही ने हाथ काट डाला। राजा बड़ा खुश हुआ और उसे वीरता का बड़ा इनाम दिया।

फिर एक दिन उसने दूसरे सिपाही से कहा कि अपनी डांग काट डालो। सिपाही ने ऐसा ही किया और वीरता दिखाने का इनाम पाया। इसी तरह राजा अपने सिपाहियों के अंग कटवा-कटवा कर उन्हें वीरता का इनाम देता रहा।

एक दिन राजा ने देश के सबसे बड़े वीर सैनिक से कहा कि तुम वास्तव में ऐसी बहादुरी का काम करो, जिसे कोई न कर सकता हो। वीर सैनिक ने तलवार निकाली, आगे बढ़ा और राजा का सिर उड़ा दिया।

-असगर वजाहत

गैरजरूरी स्वास्थ्य जाँच खुद ही एक रोग है

-डॉ. टी. रामा प्रसाद

अवाम को दवाइयाँ न लेने के लिए शिक्षित करना डॉक्टर के प्राथमिक कर्तव्यों में से एक है।

--सर विलियम अन्सलर

बीमार के इलाज के लिए उच्च तकनीक और आधुनिक दवाइयाँ जब पर्याप्त असर कर रही हों तो ऐसा लगता है कि गैरजरूरी जाँच-पड़ताल और अतिरिक्त इलाज स्वस्थ दिखने वाले लोगों के साथ अन्याय है। बड़े स्तर पर गैरजरूरी स्वास्थ्य जाँच कई स्वस्थ लोगों में भी गैरजरूरी बीमारी प्रकट कर सकती है। अचानक पूरे शरीर की स्कैनिंग, असंख्य प्रयोगशालाओं के टेस्ट तथा जाँच पड़ताल की पद्धति से व्यर्थ की असामान्यता ढूँढकर किसी को भी बीमार घोषित किया जा सकता है। यह जाँच किसी बाहरी हस्तक्षेप की इजाजत नहीं देता। व्यवसायी नजरिये से इन बीमारियों को ढूँढना तकनीक, औषधि और चिकित्सा उद्योग के लिए मौज की बात है। दवा के साथ उद्योग शब्द को जोड़ने के लिए दवाओं के पिता हिप्पोक्रेट्स मुझे माफ करें। 377 ईसा पूर्व दुनिया से विदा लेने वाले वे नहीं जानते थे कि दवाओं के साथ आगे क्या होने वाला है। स्वास्थ्य जाँच के बारे में मौजूदा सरगर्मी इसके औचित्य के लिए उतनी नहीं है जितनी विज्ञापन और ज्यादातर अंधे व्यावसायिक लेन-देन और मरीजों के आर्थिक शोषण के अप्रत्यक्ष इरादों को लेकर है। इंसानियत के लिए शोध, रिपोर्ट, विज्ञापन और विज्ञान के मूल्यों और मानकों में क्षरण ने इनकी जड़ों को सड़ा दिया है। यह दिखाया गया है कि “एक दौर की रोकथाम के लिए 850 साधारण लोगों को हमें 5 साल से अधिक समय तक एंटी हाइपरटोन्सिव दवा (जो बुरे प्रभावों से रहित नहीं है) देने होंगे।

वित्तपोषित शोध के जरिये बड़े व्यवसायी लगातार मानकों (रक्तदान की निम्नतम सीमा, रक्त में ग्लूकोज का स्तर आदि) को कम करने के प्रयास में लगे हुए हैं, ताकि लाखों लोगों को भी मरीज घोषित किया जा सके और उनकी तिजोरी भर सके। हम भोले-भाले डॉक्टर इन वैज्ञानिक रिपोर्टों को अकाट्य सत्य मान लेते हैं जिसमें चकाचौंध करने वाली विज्ञापन रणनीति की हवाबाजी होती है।

वे चिकित्सा व्यवसाय को गुमराह करते हैं और दूसरे अनैतिक तरीके से उनके दिमाग को नियंत्रित करते हैं। रक्त शर्करा, रक्त दाब के सामान्य स्तर और दूसरे मानकों में हेरफेर

के जरिये विज्ञान के आधार में गड़बड़ी करके स्वस्थ जनता को मरीज बनाने वाले इन उद्योगों के अनंत प्रयासों से सावधान रहना चाहिए, क्योंकि आम जनता में से अधिक लोगों को बीमारी के घेरे में लाना इनका निहित स्वार्थ है। पैसा कमाने के लिए उन्होंने अब कागजों पर नयी-नयी बीमारियाँ भी पैदा की हैं। इन बीमारियों के बारे में जानकारी और दोबारा अपरिहार्य जाँच-पड़ताल से लोगों की खुशी छिन जाती है और चिंता-निराशा के कारण उनका स्वास्थ्य खराब होता है तथा स्नायु रोग भी पैदा होता है।

कुछ बुनियादी जाँच-पड़ताल और पूरा चिकित्सकीय परिक्षण ज्यादातर स्वस्थ दिखने वाले व्यक्ति में महत्वपूर्ण दिक्कतें या सामान्य बीमारियाँ खोज सकता है या स्वस्थ होने की मानसिक संतुष्टि दे सकता है। गैर जरूरी जाँच पड़ताल करवाने और दवाइयों की लम्बी फेहरिस्त प्राप्त करने लिए अच्छे सामाजिक-आर्थिक हैसियत वाले लोगों का विशेषज्ञों (फेमिली डॉक्टर नहीं) यह प्रजाति लगभग लुप्त हो चुकी है।) के पास जाना एक सनक बन गया। यह सोचते हुए कि यह उनकी खराब जीवनचर्या की क्षतिपूर्ति करता है, मेरे कुछ मरीज बहुत गर्व और संतुष्टि से नियमित स्वास्थ्य जाँच कि भारी-भरकम फाईलों को दिखाते हैं और कहते हैं कि उन्होंने नियमित जाँच करवाई है और एस्पिरिन, एटोर्वास्टेटीन और एल्प्राजोलम (तीनों-ए हृदय रोग में रामबाण औषधि हैं) का नियमित सेवन किया है। इनमें से कई असमय काल कवलित हो सकते हैं।

मीरा (छद्म नाम) को एक सप्ताह से जुकाम और सिरदर्द था और वह सीधे न्युरोलॉजिस्ट के पास गयी। उसको तुरन्त मस्तिष्क के सिटी स्कैन की आज्ञा दी थी। इसमें कुछ उम्र सम्बंधित परिवर्तन उजागर हुआ। स्कैन रिपोर्ट की असामान्यता देखकर मीरा बहुत चिन्तित हुई। उसकी भूख खत्म हो गयी और वजन गिरने लगा। इसके बाद उसे आँख-कान-नाक की जाँच के लिए भेजा गया जिसे नाक के अंदर एक छोटा सा पॉलिप (बढ़ा हुआ मांस) पाया गया। एन्डोस्कोपी की रिपोर्ट देखकर उसकी भूख भी जाती रही और वह दुश्चिन्ता में डूब गयी। वजन कम होने से उसे पल्मोनोलॉजिकल जाँच के लिए तुरंत भेजा गया, जिसमें छाती

के सिटी स्कैन से लेकर पल्मोनरी और उससे आगे के सभी जाँच शामिल थे।

तानवग्रस्त मीरा को एक बड़े अस्पताल में भर्ती कराया गया जहाँ सभी विशेषज्ञ उसके ऊपर ऐसे घिर गये जैसे मांस के टुकड़े के लिए बाज झपट्टा मारते हैं। टीम में मनोचिकित्सक भी शामिल था जिसे हम डाक्टर आमतौर पर जब कोई बीमारी समझ में नहीं आती तो अपना पिंड छुड़ाने के लिये बुलाते हैं। अंततः कोई महत्वपूर्ण असामान्यता नहीं मिली, सिवाय तनाव (डॉक्टरों की कृपा से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक और आर्थिक तनाव) के जिसने भूख और वजन को कम किया था। जुकाम और सरदर्द की असली समस्या 'इलाज से एक सप्ताह में और बिना इलाज के सात दिन में' खुद ही खत्म हो जाती है।

कला में स्नातक की छात्रा मीरा को खुद को भाग्यशाली समझना चाहिए क्योंकि वह 'प्रमाण आधारित' इलाज के नाम से पेट या खोपड़ी का ऑपरेशन कराने से बच गयी।

पेंटासेक्ट संस्था की विषय सम्पादक और संस्थापक तथा वर्डस्मिथ कम्प्युनिकेशन प्रमुख प्रीतम भट्टाचार्य ने इस मामले से सम्बंधित घटना का जिक्र करते हुए मुझे लिखा "मैं एडिनबर्ग में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में खुद को दर्ज कराने पहुँची। जब सभी कागजी कार्रवाई पूरी हो गयी, तब मुझसे स्वास्थ्य जाँच के लिए अगले सप्ताह आने को कहा गया। मैंने महिला से सहृदयता से कहा "मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि मुझे दुबारा यहाँ आने कि आवश्यकता ही न पड़े।" महिला ने अपनी भौंवेँ तरेरी और तब मैंने कहा "क्या आप नहीं समझती कि मेरी प्रार्थना सच्ची है?" उसने समझ लिया और इस समझदारी पर ठहाके लगाने लगी।"

निश्चित अध्ययन दिखाते हैं कि जिस इलाके में डाक्टरों कि संख्या अधिक होती है, वहाँ रोगियों की संख्या बढ़ जाती है।

(द हिंद, 15 जनवरी, 2012 से साभार)

डेंगू मुक्त क्यूबा : चिकित्सा के क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान

(क्यूबा ने शोध प्रयासों के जरिये अपने देश को डेंगू बुखार से मुक्त कर लिया है। -विश्व स्वास्थ्य संगठन)

क्यूबा के वैज्ञानिक मारिया जी गुजमान और गुस्तावो कोरी ने बताया कि क्यूबा यह दिखाता है कि कैसे संसाधनों की कमी होते हुए भी कोई देश शोध कार्यों के जरिये डेंगू जैसी विश्व व्यापी स्वास्थ्य समस्या से निपट सकता है।

लेखकों के अनुसार हमारे देश ने स्थानीय स्तर पर पूर्ण रूप से प्रासंगिक मूलभूत समस्याओं को निराशा बनाकर और व्यवहार में लाये जाने वाले शोध के जरिये असम्भव सा लगने वाले इस काम को कर दिखाया है।

क्यूबा ने स्वदेशी अध्ययनों ने इस बुखार से सम्बन्धित उसकी जानकारी को बेहतर बनाया और अपने द्वीप के प्रसंग में इसकी खासियतों को उजागर किया जैसे मनुष्यों में डेंगू प्रतिरोधी जीन का मौजूद होना।

लेखकों के अनुसार स्थानीय शोधकार्यों से नये-नये निदान उपकरण बनाये गये हैं जिनके जरिये देशभर में फैले प्रयोगशालाओं के जाल की मदद से खून के नमूनों का विश्लेषण किया जाता है। इसी की देन है कि रोग निगरानी करने की उसकी क्षमता काफी बढ़ गयी है और क्यूबा आत्मनिर्भर हो गया है। अपने भ्रष्टाचार मुक्त प्रशासन के जरिये क्यूबा ने इन कामों को बखूबी अंजाम दिया। टीका लगाने वाली दो दवाईयाँ भी विकसित की गयी हैं जो अब इलाज में काम आने के पहले किये जाने वाले मूल्यांकन से काफी आगे के चरण में हैं।

'वेक्टर कंट्रोल योजनाओं' की सूचना देने के लिए भी शोध जानकारी का उपयोग किया जाता है। इसका इस्तेमाल कीट विज्ञान सम्बन्धी शोध कार्यों, जैसे- कीटनाशकों के प्रतिरोध की प्रक्रिया का अध्ययन करने या ऐसे पर्यावरण सम्बन्धी लक्षणों का पता लगाने में किया जाता है जो डेंगू-वाहक मच्छरों को फैलाने में मदद करते हैं।

लेखकों के अनुसार 'वेक्टर कंट्रोल योजना' में स्थानीय लोगों की भागीदारी बढ़ाने के लिए कुछ अन्य जाँच-पड़ताल किये जा रहे हैं। यह काम काफी महत्वपूर्ण है, क्योंकि डेंगू फैलाने वाले मच्छरों का मौजूद होना मानव व्यवहार पर निर्भर करता है।

यह अध्ययन लान्सेट नामक ख्यातिलब्ध मेडिकल जनरल में प्रकाशित हुआ है। क्यूबा ने एक बार यह फिर साबित किया है कि अपने देश के स्रोत-साधनों और जनता की सहभागिता के बलबूते बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान किया जा सकता है। हमारे देश की राजधानी में हर साल डेंगू एक महामारी का रूप ले लेता है और सरकारी तंत्र तमाशा देखता रह जाता है। दूर देहात में गाँव के गाँव ऐसी बीमारियों की चपेट में होते हैं और हजारों लोग स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण और मुनाफाखोरी की भेंट चढ़ जाते हैं। सबके लिए स्वास्थ्य की गारण्टी उसी समाज में सम्भव है जो सामाजिक न्याय और समानता पर आधारित हो।

आउटसोर्सिंग और वास्तविक अर्थव्यवस्था में ठहराव

-वलडेन बेल्लो

दुनिया भर में जारी मौजूदा आर्थिक संकट की शुरुआतसे ही सटोरिया पूँजी आलोचनात्मक विश्लेषणों और जनता के गुस्से का निशाना बनती रही है। लोक प्रचलित विवरणों के मुताबिक बैंकों से नियन्त्रण हटाये जाने के बाद से ही उनकी हैरतअंगेज कारगुजारियों ने अर्थव्यवस्था को संकट की ओर धकेल दिया। इस तरह, “वास्तविक अर्थव्यवस्था” यानी माल उत्पादन और वास्तविक मूल्य पैदा करने वाली वास्तविक अर्थव्यवस्था से एकदम विपरीत, “वित्तीय अर्थव्यवस्था” के चरित्र को परजीवी और खराब माना गया। वित्तीय क्षेत्र में सट्टेबाजी की कारगुजारियों में भरपूर संसाधन झोंका गया जिसके परिणामस्वरूप वास्तविक अर्थव्यवस्था की गतिशीलता का नाश हुआ और जब संकट अपने चरम पर पहुँचा तो बैंको ने कर्ज देना बन्द कर दिया, जो दीवालियापन और भारी पैमाने पर नौकरियों से निकाले जाने का कारण बना।

खून पीने वाला पिशाच बनाम कॉरपोरेट तारनहार?

इस कथा का प्रमुख खलनायक गोल्डमैन सैक्स है। जनता के दिमाग में इस वाल स्ट्रीट निवासी की छवि मैट्ट टैम्बी ने उकेरा कि वह “मानवता के शरीर से लिपटा एक रक्तपायी ऑक्टोपस है जो निष्ठुरता से उसका खून चूस रहा है ओर उस खून को किसी ऐसी चीज में बदल रहा है जिससे पैसे की बू आती है।” इस वर्णन में प्रगतिशील विश्लेषकों के हमले का पुराना निशाना- पारराष्ट्रीय निगम पृष्ठभूमि में चले गये। दरअसल निगमों की वास्तविक अर्थव्यवस्था के एक अंग के रूप में देखा जाता है जैसा कि अक्सर इसके लिए इस्तेमाल किये जाने वाले पद “गैर वित्तीय निगम” में निहित है। डेरीवेटिव जैसे काल्पनिक उत्पादों को उत्पन्न करने वाले निवेश बैंकों के विपरीत पारराष्ट्रीय निगमों को वास्तविक उत्पाद तैयार करने वाला माना जाता है, जैसे- एप्पल के फ़ैसनेबुल आई-पैड और आई-फोन।

गोल्डमैन सैक्स को एक रक्त पिपासु ऑक्टोपस के रूप में दिखाया गया जबकि एप्पल को एक कॉरपोरेट तारनहार की तरह चित्रित किया गया है जिस पर उपभोक्ताओं की तीव्रतम इच्छाओं की पूर्ती करने वाले के रूप में भरोसा किया जा सकता है। एक सर्वे में 56 प्रतिशत अमरीकियों ने माना कि एप्पल में कोई बुराई नहीं है।

हाल ही में एप्पल के बारे में न्यूयार्क टाइम्स में आयी दो लेखों की एक शृंखला हमें याद दिलाती है कि मौजूदा आर्थिक संकट को लाने में पारराष्ट्रीय निगमों और उनके द्वारा नौकरियों की आउटसोर्सिंग की कारवाइयों की अग्रणी और केन्द्रीय भूमिका रही है और इनमें सिर्फ बड़े पैमाने पर काम को अमरीका से बाहर सस्ते श्रम के स्वर्गों में स्थान्तरित कर चुकी “धुएँ का अम्बार” वाली जनरल मोटर्स और बोइंग जैसी कम्पनियाँ ही नहीं हैं, बल्कि वे भी हैं जो ज्ञान उद्योग के क्षेत्र में शामिल हैं। वास्तव में दूसरे देशों से काम करवाने वाली कम्पनियों का सबसे बड़ा हिस्सा सूचना तकनीक और सॉफ्टवेयर डवलपमेन्ट उद्योगों का है। अगर बीपी और डेल का सम्बन्ध आउटसोर्सिंग से है तो एप्पल का भी है, लेकिन चूँकि वह ऐसे माल बनाता है जो लोगों की कल्पना को निर्यत्रित करता है, इसलिए श्रम के निर्यातक कि उसकी दागदार छवि नहीं बन पाती जो गोल्डमैन सैक्स और एक्सोन से कही ज्यादा है।

एप्पल और आउटसोर्सिंग

एप्पल ने सन 2011 में प्रति कर्मचारी 4 लाख डॉलर मुनाफा कमाया फिर भी पिछले कुछ सालों में इसने अपने घरेलू आधार और प्रमुख बाजार अमरीका में बहुत कम नौकरियाँ पैदा की हैं। “टाइम्स” के अनुमान के अनुसार एप्पल कम्पनी अमरीका में 43 हजार और विदेशों में 20 हजार लोगों को रोजगार देती है जो 1950 के दशक में जनरल मोटर्स के 4 लाख अमरीकी मजदूरों या 1980 के दशक में जनरल इलैक्ट्रिक्स में काम करने वाले लाखों लोगों की तुलना में कुछ भी नहीं है। ढेर सारे लोग एप्पल के ठेकेदारों के लिए

काम करते हैं। इसके अलावा 7 लाख से ज्यादा लोग आई-पैड, आई-फोन और एप्पल के दूसरे उत्पादों का कुशल प्रबन्धन, निर्माण, और पुर्जे जोड़ने का काम करते हैं। लेकिन इनमें से शायद ही कोई अमरीका में काम करता हो, इसके बजाय वे एशिया, यूरोप या किसी दूसरी जगह स्थित फैक्ट्रियों में विदेशी कम्पनियों के लिए काम करते हैं, जिन पर अधिकांश इलैक्ट्रॉनिक्स डिजाइनर अपने माल बनवाने के लिए निर्भर हैं। सच तो यह है कि वित्तीय संकट पैदा होने की घटना को एप्पल जैसे “वास्तविक अर्थव्यवस्था” के कर्ता-धर्ताओं की रणनीतिक चालों से अलग नहीं किया जा सकता। अपने घरेलू आधार और घरेलू बाजार छोड़ने की उनकी तत्परता संकट का एक प्रमुख कारण थी। वास्तविक अर्थव्यवस्था की इस प्रवृत्ति और वित्तीय क्षेत्र की कार्यप्रणाली के बीच की एक प्रमुख कड़ी थी- उधार का आविष्कार। इससे पहले कि हम इस कड़ी की जाँच करें आउटसोर्सिंग के बारे में कुछ तथ्यों की जाँच पड़ताल करना जरूरी है।

अनुमान है कि जून 1979 और दिसम्बर 2009 के बीच अमरीकी विनिर्माण क्षेत्र की 80 लाख नौकरियाँ खत्म कर दी गयीं। एक रिपोर्ट में उद्योगों के उजड़ने की भयावह प्रक्रिया का वर्णन किया गया है- “2008 में हुई बैंकों की तबाही से काफी पहले, अत्यंत महत्वपूर्ण अमरीकी उद्योगों, जैसे-मशीनी उपकरण, बिजली का उपभोक्ता सामान, गाड़ियों के पुर्जे, फर्नीचर, बेतार के उपकरण और दूसरे बहुत से माल, जिनका कभी विश्व व्यापार पर वर्चस्व था, उन्हें बड़ी आर्थिक तबाही झेलनी पड़ी। अक्टूबर 2009 में अमरीकी विनिर्माण क्षेत्र में 1.17 करोड़ रोजगार थे जो अक्टूबर 2000 में 55 लाख रह गये, यानी 32 प्रतिशत की कमी हुई। इससे पहले विनिर्माण क्षेत्र में सबसे कम रोजगार 1941 में था, जब वहाँ लगभग 1.2 करोड़ लोग काम करते थे। अक्टूबर 2009 में जितने लोग विनिर्माण क्षेत्र में काम करते थे उससे कहीं ज्यादा लोग (1.57 करोड़) औपचारिक रूप से बेरोजगार थे।”

आउटसोर्सिंग और वास्तविक अर्थव्यवस्था में ठहराव

विनिर्माण क्षेत्र की इस तबाही के कारण भारी संख्या में अच्छी तनख्वाहों वाली नौकरियाँ गायब हो गयीं। इसने अमरीका में आये, मजदूरी और क्रय शक्ति के ठहराव में

महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। रॉबर्ट रीच बताते हैं कि 2008 की तबाही से पहले के 3 दशकों में आम अमरीकियों के वेतन बमुश्किल ही बढ़े और वास्तव में 2000 के दशक में तो घट ही गये।

आय के इस ठहराव ने व्यापार और राज्य दोनों के लिए एक आशंका पैदा की। व्यापार के लिए माँग की धीमी रफ्तार का अर्थ था अति उत्पादन और इस तरह इसने निगमों के प्रमुख बाजारों का मुनाफा घटा दिया। दूसरी ओर इसके चलते राज्य के आगे सामाजिक टकरावों और अस्थिरता का प्रेत मँडराने लगा।

निजी क्षेत्र ने बैंको द्वारा कर्ज में भरी बढोत्तरी के जरिए ठहरे हुए बाजार की चुनौती को अस्थायी रूप से झेल लिया। बैंकों ने कर्ज देने का मानदण्ड काफी आसान बना दिया और विभिन्न प्रकार के क्रेडिट कार्डों के माध्यम से लाखों उपभोक्ताओं को जाल में फँसा लिया। कर्ज देने के लिए बैंकों ने चीन और मुद्रा निर्यात करने वाली दूसरी एशियाई अर्थव्यवस्थाओं से अच्छी खासी रकम जुटायी। इस तरह कर्ज ने उपभोग के स्तर को ऊँचा उठाये रखा, जिसके चलते 1990 के दशक और 21वीं शताब्दी के पहले दशक के मध्य तक बाजार में तेजी कायम रही।

वाशिंगटन ने “लोकप्रिय कर्ज विस्तार की रणनीति” अपना कर राजनीतिक रोष को टालने की कोशिश की, यानी फ्रीडी मैक और फैनो मेई के माध्यम से निम्न आय वर्ग के लोगों को घर बनवाने के लिए आसानी से कर्ज दिलाया। इसके परिणामस्वरूप न केवल राजनीतिक स्थिरता कायम रही, बल्कि सटोरिया पूँजी को भारी मुनाफा कमाने का मौका भी मिला। जैसा कि रघुराम राजन लिखते हैं- “सरकार ने ज्यादा से ज्यादा धन वित्तीय क्षेत्र को या निम्न आय वर्ग के लोगों को मकानों के लिए उधार के रूप में झोंका और निजी क्षेत्र इस महाभोज में शामिल हो गया। आखिरकार उन्होंने जोड़-घटाव करके हिसाब लगाया था और उन्होंने सोचा था कि सरकार की इन कारवाइयों के पीछे की राजनीतिक मजबूरियाँ जल्दी खत्म नहीं होंगी। एजेन्सी की मदद से सबप्राइम बन्धक पत्र अस्थिर होंगे और कम कीमत वाले मकानों की कीमत बढ़ जायेगी। कम से कम जोखिम और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा, निजी क्षेत्र को भला और क्या चाहिए?”

चीन के साथ एप्पल का सम्बन्ध

2008 में वित्तीय क्षेत्र के अन्दर जो धमाका हुआ उसके साथ ही कर्ज विस्तार के जरिये जनता के साथ मेल-जोल भी खत्म हो गया। आज लाखों अमरीकी एक ओर बेरोजगारी और दूसरी ओर बेपनाह कर्ज की मार झेल रहे हैं। लेकिन बेरोजगारी की लगातार ऊँची होती दर यह दर्शाती है कि नौकरियों का निर्यात लगातार जारी है और चीन अब भी मनपसन्द जगह बना हुआ है। दक्षिणी चीन एक निवेश क्षेत्र के रूप में यदि अपना आधिपत्य बनाये हुए है तो इसका एक कारण इसके सरकारी सब्सिडी प्राप्त आपूर्तिकर्ता हैं जिनके कारखाने एक-दूसरे से सटे हुए होने के चलते उनकी परिवहन लागत काफी कम हो जाती है और इस तरह वे आई-पैड या आई-फोन के पुर्जे काफी तेजी से जोड़ने वाले एक अपराजय आपूर्ति शृंखला स्थापित कर चुके हैं। इस तरह वे एक बहुत ही प्रतिस्पर्धी बाजार में कम से कम समय में माल तैयार करके अपने ग्राहकों को संतुष्ट कर रहे हैं।

एप्पल के संस्थापक स्टीव जाब्स ने इस प्रणाली को तैयार करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। एप्पल के अधिकारी आई-फोन के लिए एक ऐसी शीशे की स्क्रीन चाहते थे, जिस पर खरोंच न आये और उन्हें यह “6 सप्ताह” के भीतर चाहिए था। ‘टाइम्स’ के अनुसार इसके बाद एक अधिकारी ने मीटिंग से निकलते ही चीन जाने वाले हवाई जहाज का टिकट कटवाया। उसका कहना था कि “यदि जाँब्स साहब ऐसी ही आदर्श चीज चाहते हैं तो इसके लिए चीन के अलावा कोई और जगह नहीं है।”

लेकिन आपूर्ति शृंखला के अर्थशास्त्र की विशेषज्ञता तो केवल एक कारण है जिसकी वजह से जाँब्स और एप्पल चीन को इतना पसंद करते हैं। मुख्य कारण आज भी राज्य द्वारा निर्यातित सस्ता श्रम ही है। एप्पल के आचरण के बारे में ‘टाइम्स’ ने ब्यौरा दिया है कि एक सामाजिक रूप से जिम्मेदार कम्पनी होने का दावा करने के बावजूद एप्पल अपने ठेकेदारों के साथ कठोर मोल-भाव करता है और “मुनाफे का केवल न्यूनतम” हिस्सा ही उनके लिए छोड़ता है। इस तरह “आपूर्तिकर्ता अक्सर आकार कम करने की कोशिश करते हैं, मँहगे रसायनों के स्थान पर सस्ते रसायनों का इस्तेमाल करते हैं या अपने कामगारों को तेजी से और ज्यादा देर तक श्रम करने को मजबूर करते हैं।”

आई-पैड को बाजार में लाने में सहायक एक कम्पनी के एक अधिकारी का कहना है कि-“चीजों को अधिक से अधिक कुशलतापूर्वक और सस्ते दर पर तैयार करने की

तरकीब निकालना ही एकमात्र उपाय है जिससे आप एप्पल के लिए काम करके पैसा कमा सकते हैं और अगले साल वे फिर आयेंगे और आप को दस प्रतिशत दाम कम करने के लिए मजबूर करेंगे”।

कोई अचम्भे की बात नहीं है कि एप्पल के बहुत से आपूर्तिकर्ता दुर्घटनाओं के शिकार हुए हैं, जिनमें विस्फोट भी शामिल हैं। एप्पल के एक पूर्व अधिकारी का कहना है कि “मुनाफे में कटौती करने का मतलब ही यही है कि आप उन्हें सुरक्षा में कटौती के लिए मजबूर करते हैं।”

लागत में हद से ज्यादा कटौती के चलते न केवल दुर्घटनाएँ होती हैं, बल्कि कामगारों द्वारा विरोध प्रदर्शन भी होते हैं। उनमें से कुछ आत्महत्या जैसा आत्मघाती रास्ता अपनाते हैं जैसा कि सन 2009-2010 में एक कुख्यात दैत्याकार कॉरपोरेट ठेकेदार कम्पनी ‘फोक्स कॉन’ के मजदूरों ने किया था, जबकि दूसरे मजदूर स्वतःस्फूर्त कारवाइयों करते हैं, जिसको प्रबंधकों और सरकार द्वारा बलपूर्वक कुचल दिया जाता है।

एप्पल के उत्पाद सर्वश्रेष्ठ हैं, अपनी बेहतरीन डिजाइन, तकनीक और खास पहचान या “भव्यता” के मामले में सबसे अलग हैं। लेकिन बाजार पर इस कम्पनी के वर्चस्व कायम होने का अभियान, अमरीका और चीन दोनों ही देशों के मजदूरों से भारी कीमत वसूल कर ही पूरा हुआ है। आई-पैड और आई-फोन अभियांत्रिकी के सर्वश्रेष्ठ नमूने हैं। लेकिन ये केवल उपभोक्ता वस्तुएँ नहीं हैं। ये उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के भी मूर्तरूप हैं। ये सम्बन्ध भारी माँग वाले हमारे जमाने की एक शीर्षस्थ कम्पनी और स्लावो जिजेक के शब्दों में आज के उस “आदर्श पूँजीवादी राज्य”-चीन के बीच गठजोड़ की अभिव्यक्ति हैं जो पूँजी को जैसी आजादी देता है और श्रमिकों पर लगाम कसने में जितना माहिर है, उसका दुनिया में कोई सानी नहीं है। व्हाइट हाउस के पूर्व आर्थिक सलाहकार जारेट बर्न्सटीन की बातों से कोई इनकार नहीं कर सकता जिसने टाइम्स को कहा था-“अगर यह (एप्पल सिस्टम) पूँजीवाद की पराकाष्ठा है, तो हमारे लिए यह चिन्ता की बात है?”

(**वलडेन बेल्लो** फिलीपीन्स की प्रतिनिधि सभा के सदस्य, कर्ज मुक्ति सहकार के अध्यक्ष और बैंकोंक स्थित ग्लोबल साउथ के वरिष्ठ विरलेषक हैं। वे *फॉरैन पॉलिसी इन फोक्स* के स्तम्भकार और *द फूडबार* किताब के लेखक हैं।)

पान सिंह तोमर-“हमरो जवाब पूरो ना भयो”

-दिगम्बर

तिग्मांशु धूलिया की फिल्म पान सिंह तोमर स्टीपल चेज (बाधा दौड़) में सात बार राष्ट्रीय चैम्पियन रहे एक फौजी के जीवन पर आधारित है जिसे हालात ने चम्बल का बागी बना दिया था। (स्टीपल चेज एक बहुत ही कठिन और थकाऊ खेल है जिसमें 3000 मीटर की दौड़ करते हुए 28 बाधाएँ और 8 पानी के गड्ढे पार करने होते हैं।)

चम्बल के बागियों पर अब तक न जाने कितनी मसालेदार हिन्दी फिल्में बनी, जिनमें कुछ तयशुदा कथासूत्र या फिल्मी फारमूले हुआ करते थे। उन फिल्मों की एक खासियत यह भी होती थी कि छद्म-व्यक्तित्व वाले या निर्वैयक्तित्व डाकुओं का किरदार निभाने वाले अभिनेताओं का व्यक्तित्व इतना उभरता था कि वे दर्शकों के दिलोदिमाग पर और साथ ही फिल्मी दुनिया में भी छा जाते थे। इसके क्लासिकीय उदाहरण मेरी जानकारी में रजा मुराद, जोगिन्दर और अमजद खान हैं। लेकिन पान सिंह तोमर इस मायने में उनसे एकदम अलग है कि इसमें लूट-पाट, हत्या, बदले की आग और क्रूरता का सनसनीखेज, ग्राफिक चित्रण नहीं है। इसमें डाकू के किरदार का गौरवगान या दूसरे छोर पर जाकर दानव के रूप चित्रण भी नहीं है। बागियों की बहादुरी और उनके अतिमानवीय चरित्र का बखान करने के बजाय यह फिल्म उन सामाजिक परिस्थितियों पर रोशनी डालती है, जिनमें एक प्रतिभाशाली खिलाड़ी और अनुशासित फौजी को बागी बनने पर मजबूर कर दिया जाता है।

तिग्मांशु धूलिया ने शेखर कपूर की फिल्म बैडिट क्वीन में सह निर्देशन करते हुए जो तजुर्बा हासिल किया, उसका भरपूर इस्तेमाल किया और इसे एक उत्कृष्ट फिल्म बनाने में पूरी तरह कामयाब रहे। चम्बल की घाटी, नदी, बीहड़ और ग्रामीण अंचल के अब तक अनछुए, अनोखे भूदृश्यों को बखूबी कैमरे में कैद किया गया है। कथानक और माहौल के अनुरूप फिल्म के संवाद भिंड-मुर्ना की ठेठ बोली में हैं जो डाक्यूमेंट्री फिल्मों में ही देखने को

मिलते हैं। यथार्थ चित्रण के लिए निर्देशक ने यह जोखिम उठाया। फिर भी दर्शकों को इससे कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि संवाद के अलावा सिनेमा के दूसरे रूप विधान-अभिनय, दृश्यबंध और फिल्मांकन अपनी पूरी कलात्मकता के साथ दर्शकों को बाँधे रहते हैं। संजय चौहान ने पटकथा पर काफी मेहनत की है और तिग्मांशु धूलिया के संवाद ने उसे एकदम जीवन्त बना दिया है।

इरफान ने पान सिंह के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं- फौजी, धावक, पति, बागी और पिता के चरित्र को भरपूर जिया है। उनके कुशल और सशक्त अभिनय का ही कमाल है कि पान सिंह की जीवन झाँकी हमें एक ही साथ तनावग्रस्त करती है, प्रफुल्लित करती है, बेचैन करती है और उत्साहित भी करती है। पत्रकार की भूमिका में विजेन्द्र काला और पान सिंह की पत्नी की भूमिका में माही गिल का अभिनय भी काफी सहज-स्वाभाविक है। चरित्र अभिनेताओं ने भी गजब का अभिनय किया है। संगीत का अतिरेक नहीं है, इसलिए फिल्म के कथानक पर यह हावी नहीं होता। कुल मिलाकर इस फिल्म में अन्तर्वस्तु और रूप की एकता भी गजब है।

इस फिल्म की तारीफ तो सिर्फ इसी बात के लिए की जा सकती है कि मौजूदा दौर में, जहाँ क्रिकेट खिलाड़ियों की करोड़ों में बोली लग रही हो और शतक बनाने वालों को भारत रत्न देने तक की माँग हो रही हो, जबकि बाकी तमाम खेलों के राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय खिलाड़ियों की कोई पूछ न हो, वहाँ पान सिंह तोमर जैसे भूले-बिसरे धावक की कहानी को फिल्म का विषय बनाया गया। फिल्म के अन्त में ऐसे ही चार अन्य खिलाड़ियों को भी याद किया गया है जो राष्ट्रीय चैम्पियन होने के बावजूद कंगाली-बदहाली की हालत में इलाज के बिना गुमनाम मौत मरे और यहाँ तक कि अपना स्वर्ण पदक बेचने पर भी मजबूर हुए।

लेकिन यह फिल्म अपने देश के उपेक्षित और गुमनाम खिलाड़ियों को श्रद्धासुमन अर्पित करने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी सबसे बड़ी खूबसूरती और कामयाबी यही है कि यह किसी एक बागी की कहानी मात्र नहीं रह जाती। इस फिल्म में नायक के चरित्र के साथ उसका सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश पूरी तरह अन्तर्गुणित है। इसलिए इस फिल्म का अनेक स्तरों पर रसास्वादन किया जा सकता है। पान सिंह को गढ़ने वाला सामाजिक यथार्थ उसकी कहानी के साथ अन्तर्धारा की तरह प्रवाहित होता रहता है और उसके जीवन के समानान्तर चल रहा भारतीय समाज-व्यवस्था का विकृत चेहरा हमारे सामने सजीव रूप में आ उपस्थित होता है। किसी उत्कृष्ट कलाकृति की खासियत भी यही है और इसीलिए तिग्मांशु धूलिया की यह फिल्म भारतीय सिनेमा की प्रवीणता और प्रौढ़ता की ओर बढ़ते जाने का एक सुखद संकेत है।

इस फिल्म में पान सिंह की जीवन झाँकी के माध्यम से बीहड़ के ग्रामीण अंचल की ही नहीं, बल्कि आजादी के बाद निर्मित समूचे भारतीय समाज की व्यथा-कथा कही गयी है। पत्रकार के इस सवाल के जवाब में कि आपने पहली बार बन्दूक कब उठायी, वह अपने जीवन के समानान्तर चलने वाली कहानी का निचोड़ सीधे सपाट ढंग से रख देता है- 'अंग्रेज भगे इस मुल्क से बस उसके बाद, पंडित जी प्रधान मंत्री बन गये और नव भारत के निर्माण के संगे-संगे हमओ भी निर्माण सुरू भओ।'

भारतीय राज्य और यहाँ के शासक वर्गों के चरित्र की झलक इस फिल्म में साफ-साफ देखी जा सकती है। आजादी के बाद हमारे देश में ढेर सारी विकृतियों वाली एक पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद पड़ी। औपनिवेशिक प्रशासनिक ढाँचे को थोड़े-बहुत फेर-बदल के साथ बनाये रखा गया जिसको लेकर अक्सर सवाल उठते रहते हैं- चाहे औपनिवेशिक गुलामी को कायम रखने के लिए अंग्रेजों द्वारा बनाये गये न्याय तंत्र और कानून को जारी रखने की बात हो, जनविमुख सेना की अफसरशाही और फरमानशाही हो, पुलिस का उत्पीड़क और दमनात्मक चरित्र हो या प्रशासन तंत्र की जनता के प्रति बेरुखी और लापरवाही। आजादी के इतने वर्षों बाद भी यहाँ का राज्य-तंत्र अंग्रेजों की तरह ही, बल्कि कई मामलों में अंग्रेजों से भी क्रूरतापूर्वक देश की जनता के साथ

प्रजा-पौनी के रूप में बर्ताव करता है। स्वस्थ लोकतांत्रिक समाज को मजबूत बनाना और संचालित करना इस शासन तंत्र का दायित्व नहीं है। उसे तो बस कानून-व्यवस्था को कायम रखना है। बागी या अपराधी बनाने वाली परिस्थितियों और कारणों को बनाये रखना, लोगों को अपराधी बनने की ओर धकेलना और फिर कानून की रक्षा के नाम पर उन्हें मुठभेड़ में मारना ही जैसे पुलिस प्रशासन का काम हो।

पान सिंह के दो संवाद इस सच्चाई को तीक्ष्ण रूप से व्यक्त करते हैं। फौज का अधिकारी जब उससे सरेंडर करने की अपील करता है तो वह आक्रोश में आकर कहता है- 'उन लोगों से क्यों नहीं पूछते सवाल जो बनाते हैं बागी। पहले वे सरेंडर करें फिर हम करेंगे सरेंडर।' इसी तरह सेना का एक दूसरा अधिकारी जब सरेंडर करके कोच बनने की सलाह देता है तो वह कहता है कि 'खेल की कीमत ये पुलिस-पंचायती क्या जानें। इन्हें तो बीहड़ आबाद करने के लिए एक और मिल गयो बागी।'

आजादी के बाद गाँवों की आन्तरिक संरचना में हुए बदलावों को भी इस फिल्म में साफ-साफ देखा जा सकता है। फिल्म का खलनायक दददा पान सिंह का चचेरा भाई है जो उसकी जमीन हड़प लेता है और उसके परिवार का गाँव में रहना दूभर कर देता है। एक ही खानदान के दो परिवारों में से एक परिवार हर तरह के नाजायज तौर-तरीके अपना कर सरकारी तंत्र के सहयोग और समर्थन से ऊपर उठता चला जाता है तथा पूँजी के बलबूते पर नये तरह की जोर-जबरदस्ती और स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन करता है। मौजूदा भारतीय गाँवों की यह आम सच्चाई है जहाँ पुराने सामन्तों की जगह बहुत ही थोड़ी संख्या में, खासतौर पर ऊपरी और मध्यम जातियों के बीच से एक नव धनाढ्य वर्ग उभरा है। इसी वर्ग के हाथ में स्थानीय स्तर पर सत्ता की बागडोर है। वह अपने पट्टीदार को तो क्या, अपने ही सगे भाई को भी अपनी खुशहाली के रास्ते से हटा सकता है।

इसी त्रासद और अमानुषिक रास्ते से हमारे गाँवों में किसानों के विभेदीकरण यानी, वर्गीय ध्रुवीकरण की प्रक्रिया पूरी हुई है। मूलतः सवर्ण काश्तकारों का एक हिस्सा कंगाली का शिकार होकर समाज के निचले पायदान पर स्थित बहुसंख्य दलित और पिछड़ी जातियों की पहले से ही वर्चित जमात में शामिल होता गया। इस नयी सामाजिक

संरचना के ऊपरी पायदान पर कुलकों, भूस्वामियों, फार्मरों, धनी किसानों, ठेकेदारों और सरकारी तंत्र से नाभिनालबद्ध परजीवियों के छोटे से तबके का ग्रामीण क्षेत्रों में वर्चस्व कायम हुआ है। इस परिघटना की एक झलक पान सिंह के दद्दा और उसके परिवार के रूप में देख सकते हैं। फिल्म में इस तबके की हेकड़ी उत्कट रूप में उस दृश्य में सामने आती है जब कलक्टर यह कहते हुए भाग खड़ा होता है कि **‘यह चम्बल का खून है, तुम लोग आपस में निपट लो।’** यही स्थिति आज स्थानीय भिन्नताओं के साथ हर इलाके में मौजूद है।

इस फिल्म में पान सिंह तोमर के व्यक्तित्व में क्रमशः तीन अलग-अलग चारित्रिक बदलाव दिखाई देते हैं। फौज में भर्ती होने तक स्वाभाविक रूप से उसके ऊपर सामन्ती परिवेश का प्रभाव है। फौज की नौकरी के शुरुआती दिनों में उसके आचार-व्यवहार में इसकी साफ झलक मिलती है। दूसरा, एक सैनिक के रूप में वह आजादी के बाद स्थापित नयी शासन व्यवस्था और राज्य के प्रति वफादारी का पाठ पढ़ता है तथा सेवानिवृत्त होकर गाँव लौटने के बाद भी उसे निभाने का प्रयास करता है। तीसरा, इस व्यवस्था से मोहभंग होने और बागी बनने के बाद का व्यक्तित्व है। इन तीनों चरित्रों की बारीकियों को इरफान ने अपने सशक्त अभिनय से बखूबी उभारा है।

फौजी अफसरों के सामने पेशी के समय वह सहज, बेबाक और भोले लहजे में जिन सच्चाइयों का बयान करता है वह उसकी ठेठ समाप्ती और गाँवई मानसिकता का इजहार है। वह अपने मामा के बागी होने और अब तक पुलिस की गिरफ्त में न आने का बखान करता है। यह पूछे जाने पर कि तुम देश के लिए मर सकते हो, वह कहता है कि **‘मार भी सकता हूँ, ..’** इस सवाल के जवाब में कि क्या वह सरकार पर विश्वास करता है उसका कहना है कि **‘सरकार तो चोर है, इसीलिए तो फौज की नौकरी में आया हूँ, सरकारी नौकरी नहीं की।’**

अपने कोच द्वारा गाली दिये जाने पर पान सिंह कहता है कि **‘हमारे यहाँ गाली पर गोली चल जाती है।’** लेकिन यहीं से फौजी जीवन जीने के साथ-साथ उसका रूपान्तरण शुरू होता है। वह राज्य की नयी संरचना को स्वीकारते हुए उसके द्वारा निर्मित अनुशासन के साँचे में ढलने लगता है। इस तरह उसके व्यक्तित्व में एक महत्वपूर्ण बदलाव आता है। पान सिंह काफी हद तक पुराने सामन्ती संस्कारों की जगह नये जीवन मूल्यों को अपनाता है। गाँव की चौहद्दी लाँघने और बाहरी दुनिया से सामना होने के बाद जैसा कि फिल्म की शुरुआत में पत्रकार को अपनी

कहानी सुनाते हुए उसने कहा था, यानी **‘नव भारत के निर्माण के संगे-संगे हमओ भी निर्माण शुरू भओ’**, वह सब उसके निजी जीवन में घटित होता है। फौज की नौकरी के दौरान वह कायदे-कानून के प्रति जिस आस्था का पाठ पढ़ता है, उसे बाद में भी अपने जीवन में उतारने की भरपूर कोशिश करता है। गाँव लौटने के बाद अपने विरोधियों का अत्याचार सहते हुए और बार-बार अपने करीबी लोगों के उकसाने पर भी बन्दूक उठाने को तैयार नहीं होता। वह कमिश्नर के जरिये पंचायत में जमीन का विवाद सुलझाने की कोशिश करता है, लेकिन न्याय दिलाने के बजाय कमिश्नर उसे अपने हाल पर छोड़ देता है। विरोधियों की मार-पिट्टाई से बेटे के बुरी तरह लहलुहान हो जाने पर वह पुलिस से फरियाद करता है। यह बताने के बावजूद कि वह राष्ट्रीय खिलाड़ी और फौजी रहा है, थानेदार उसके मामले को गम्भीरता से नहीं लेता, उसका मजाक उड़ाता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करता है। वह कहता है कि **‘तुम्हारे बेटे की सांस तो चल रही है, मरा तो नहीं। मुरैना पुलिस की इज्जत है। बिना दो-चार गिरे हम कहीं नहीं जाते।’** पान सिंह गुस्से से आग बबूला हो उठता है, दरोगा को खरी-खोटी सुनाता है और मायूस होकर लौट जाता है। फिर भी वह कानून को हाथ में नहीं लेना चाहता, क्योंकि नवभारत के निर्माण और कायदे-कानून पर उसे भरोसा है। लेकिन भारतीय राज मशीनरी एक नागरिक के रूप में पान सिंह की उम्मीदों पर खरा नहीं उतरती। उधर दद्दा का परिवार उसके घर पर हमला करके उसकी बूढ़ी माँ को पीट-पीट कर मार डालता है। उसका परिवार गाँव छोड़ने पर मजबूर होता है। अनेक कटु अनुभवों से गुजरने के बाद उसे यह सबक मिलता है कि मौजूदा शासन-प्रशासन उसके लिए बेमानी है। उसका मोहभंग होता है और अंतिम विकल्प के रूप में वह बंदूक उठा कर बीहड़ों की राह लेता है।

सच तो यह है कि राज्य मशीनरी की निर्मम उपेक्षा और समाज व्यवस्था की क्रूरता और चरम स्वार्थपरता ने पान सिंह के लिए मरने या मारने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं छोड़ा। इतने पर भी वह अपने घायल बेटे को अगले ही दिन यूनिट में हाजिर होने का आदेश देता है। जब उसका भतीजा पूछता है कि दद्दा हमारी यूनिट कब निकलेगी तो वह अपने अन्तरद्वंद्व पर बड़ी मुश्किल से काबू पाते हुए डबडबाई आँखों और भारी मन से कहता है कि **‘हमई यूनिट निकलेगी कल सुबे।’**

पान सिंह का यह मोहभंग दरअसल उस व्यवस्था से है जो लोकतांत्रिक मूल्यों और संस्थाओं को भारतीय समाज में

गहराई से रोपने में पूरी तरह से असफल साबित हुआ। भारतीय शासक वर्गों ने आजादी के बाद अपने संकीर्ण स्वार्थों के चलते सभी तरह के प्रतिगामी मूल्यों से समझौता किया और सामन्तवादी सामाजिक संरचना को मूलतः बने रहने दिया। उसने जातिवाद, सम्प्रदायवाद, कबीलाई जत्थेबंदी और हर तरह के भेदभाव को मिटाने के बजाय उन्हें अपनी नयी संरचना का सहायक बना लिया। उसने जनता से किये गये आमूल भूमि सुधार के वादे को तिलांजलि दे दी। यह एक ऐसा ऐतिहासिक कार्यभार था जो अतीत से चली आ रही ढेर सारी सामाजिक विकृतियों और विद्रूपताओं को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए अनिवार्य था।

बागी होने के बावजूद पान सिंह डकैत और बागी के फर्क को मिटाता नहीं। उसे इस बात का सख्त अफसोस है और गुस्सा भी कि जब उसने देश के लिए मैडल लाया तो उसे कोई पूछने वाला नहीं था, लेकिन जब बागी बन गया तो सब उसका नाम ले रहे हैं। फिल्म के शुरुआती दृश्य में इन्टरव्यू लेने आये पत्रकार द्वारा खुद को डाकू कहे जाने पर वह एतराज करते हुए कहता है कि **‘बीहड़ में बागी होते हैं, डकैत पार्लियामेंट में होते हैं।’** वह उस पत्रकार से पूछता है कि **‘इस इन्टरव्यू के छपने से तुम्हारी तरक्की होगी?’** वह उसका अनादर करता है, उसे जमीन पर बिठाता है। पत्रकारों को बिना मेहनत की कमाई करने वाला बताते हुए उसका मजाक उड़ाता है और कहता है कि बहुत चर्बी चढ़ी हुई है, रोज दौड़ लगाओ। तीन राज्यों की पुलिस को चकमा देने के बाद चर्चित होने की घटना का बयान करने के बाद पत्रकार की चापलूसी और तारीफ सुनकर वह नफरत और गुस्से कहता है— **‘सत्ताइस बैरियर, सात पानी का गड्ढा पार करके तीन हजार मीटर दौड़ पुरा किये, नेशनल चैम्पियन भये कउनो ना पूछा। ये तीन स्टेट की पुलिस को चकमा देके एक किडनैपिंग कर लेई तो पूरा देश में पान सिंह पान सिंह हो गवो।’**

जाहिर है कि बागी बनने के बाद भी उसका अतीत और भविष्य का सपना— ‘नव भारत का निर्माण’ दुःस्वप्न की तरह उसका पीछा करता है। लेकिन जैसा कि वह बागियों के सरदार द्वारा सरेंडर करने का आग्रह टुकराते हुए कहता है, दौड़ जब शुरू होती है तो चाहे जीतें या हारें, उसे पूरा करना होता है। उसके लिए पीछे हटने का कोई रास्ता नहीं है क्योंकि **‘बीहड़ में दुश्मन खत्म हो जाते हैं दुश्मनी नहीं।’**

फिल्म के एक मार्मिक दृश्य में पान सिंह दद्दा को दौड़ा

कर जमीन पर गिरा देता है और वह उसके आगे अपनी जान की भीख माँगते हुए गिड़गिड़ाता है। वह बड़ी ही आत्मीयता, तकलीफ और क्षोभ के साथ उससे यह सवाल पूछता है कि **‘हम तो एथलीट हते। धावक । इन्टरनेशनल। अरे हमसे ऐसी का गलती है गयी। का गलती है गयी की तैने हमसे हमारो खेल को मैदान छीन लेयो। और ते लोगों ने हमारे हाथ में जे (बन्दूक) पकड़ा दी। अब हम भाग रए चम्बल के बीहड़ में। जा बात को जवाब कौन दैगो, जा बात को जवाब कौन दैगो?’**

पान सिंह का यह सवाल दरअसल अपने दद्दा से ही नहीं, आजादी के बाद अस्तित्व में आयी नयी व्यवस्था के स्वप्नदर्शियों और कर्णधारों से है जिनके रचे समाज में दद्दा जैसे लोग पैदा हुए और फले-फूले। राज्य मशीनरी ने उन्हें संरक्षण दिया। बागियों को खत्म करने में दिन-रात जुटी रहने वाली राज्य मशीनरी ही बागी पैदा करने वाली सामाजिक संरचना का पोषण-संरक्षण करती रही। उसका लाभ उठाकर गाँव के इलाकों में एक नया शोषक वर्ग पैदा हुआ जो पुराने सामन्ती शोषकों से भी अधिक क्रूर, शातिर और हर तरह के सड़े-गले विचारों का पोषक है। मौजूदा व्यवस्था को टिकाये रखने वाला सबसे निचले स्तर का अवलम्ब यही वर्ग है जो 1981 से लेकर आज तक, दिन ब दिन और भी ताकतवर होता गया है। पान सिंह का अपने दद्दा से सवाल पूछने का सिलसिला चल ही रहा होता है कि उसके गिरोह का एक आदमी गोली दाग कर उसका काम तमाम कर देता है। पान सिंह व्याकुल होकर चीखता है— **‘हमरो जवाब पूरो ना भयो।’** यह सवाल दद्दा से नहीं क्योंकि वह मार दिया गया। यह सवाल मौजूदा व्यवस्था से है और हम सब से भी है। सचमुच पान सिंह का प्रश्न अभी अनुत्तरित है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से आइजेल तक आज भी पान सिंह तोमर नाना रूपों में पैदा हो रहे हैं और गुमनाम मौत मर रहे हैं जबकि उन्हें पैदा करने और मारने वाली व्यवस्था का कुछ नहीं बिगड़ रहा है। कुछ ही साल पहले की बात है, जब हरित क्रान्ति का सिरमौर जिला मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) में कुछ ही महीने के अन्दर पचास से भी अधिक नौजवान पुलिस मुठभेड़ में मारे गये थे।

पान सिंह तोमर फिल्म में उठाये गये सवाल हमारे मौजूदा दौर के बेहद जरूरी सवाल हैं। इसका जवाब ढूँढे बिना बगावत के आत्मघाती सिलसिले को भगत सिंह की दिशा में मोड़ना और भारतीय समाज को आगे की मंजिल तक ले जाना मुमकिन नहीं।

बहस के लिए जाति में जकड़े रहना भारत की नियति नहीं

-आंद्रे बताई

जो लोग अखबारों और टीवी चैनलों पर सामयिक मुद्दों के ऊपर चर्चा करते रहते हैं, वे अगर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जाति भारत की नियति है, तो उन्हें माफ कर देना चाहिए। राजनीतिक मुद्दों पर टिप्पणी करनेवाले मीडिया विशेषज्ञों के बीच अगर किसी बात में समानता है तो बस यही कि जाति के विषय में और चुनावी राजनीति में उसकी भूमिका की ओर ध्यान आकृष्ट करने में वे हमेशा लवलीन रहते हैं।

बहुतेरे लोग अब यह यकीन करने लगे हैं कि देश में हो रहे जनसंख्या सम्बंधी, तकनीकी और आर्थिक बदलावों से तो इनकार नहीं किया जा सकता, लेकिन फिर भी जातियों और समुदायों में बंटे होना भारतीय समाज का अनिवार्य चरित्र है और इसे मिटा पाना असंभव है। उनका यह भी मानना है कि इन बंटवारों को नजरअंदाज करना या आमदनी, शिक्षा और पेशा जैसे दूसरे बंटवारों की ओर ध्यान दिलाना जमीनी सच्चाइयों से मुँह चुराना है। उनमें से जो कुछ ज्यादा ही रेंडिकल हैं, वे यह भी जोड़ देते हैं कि इन सच्चाइयों की अनदेखी करना, दरअसल समाज के फायदे और जिम्मेदारियों का इंसफ और बराबरी के साथ बंटवारे की राजनीतिक जिम्मेदारी से टालमटोल करना है।

क्या भारत में कुछ भी नहीं बदला है? वास्तव में पिछले सात सालों के दौरान हमारी राजनीतिक अवधारणा और सामाजिक यथार्थ दोनों ही मामलों में ढेर सारे बदलाव हुए हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के जिन नेताओं ने उपनिवेशिक शासन से भारत की स्वतंत्रता के लिए सफलतापूर्वक संघर्ष किया, उनका विश्वास था कि अतीत में भारत भले ही जातियों और समुदायों में बंटा समाज था, लेकिन नये गणतंत्रिक संविधान को अंगीकार कर लेने के बाद यह नागरिकों का राष्ट्र बन जाएगा। वे अत्यंत आशावादी थे। संविधान ने नागरिकों के अधिकारों को स्थापित किया, लेकिन इसने जिन नागरिकों का सर्जन किया उनके दिलों और दिमागों से जाति का निर्मूलन नहीं किया। कई भारतीयों का, शायद अधिकांश लोगों का दिली मिजाज आज भी ऊँच-नीच में बंटे समाज का ही मिजाज है।

आपसी खान-पान के नियम

सार्विक वयस्क मताधिकार ने जाति के आधार पर चुनावी समर्थन जुटाने की नयी सम्भावनायें पैदा की और इस तरह जातिगत चेतना को समाप्त होने से रोका। लोकतंत्र से अपेक्षा थी कि यह जातिगत भेदभाव को नष्ट कर देगा, लेकिन इसके परिणामस्वरूप जो उम्मीद थी, उससे उल्टे ही नतीजे सामने आये। लोकतंत्र में राजनीति किसी देश के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है, लेकिन यह उसका एकमात्र अंग नहीं है। जीवन के दूसरे क्षेत्र हैं जिनमें जातिगत चेतना निस्तेज होती गयी है, भले ही बहुत तेजी से और नाटकीय रूप में न हुई हो। बदलाव की जिस रुझान के बारे में हम आगे चर्चा करेंगे उस ओर मीडिया का ध्यान नहीं गया क्योंकि यह बदलाव लंबे समयांतराल में घटित हुआ। इसे महीने-महीने या साल दर साल देख पाना मुमकिन नहीं, बल्कि दो या दो से अधिक पीढ़ियों के दौरान ही इसे महसूस किया जा सकता है।

हम पवित्रता और अपवित्रता के कर्मकांडी विरोध से ही शुरू करें, जो जातियों के ऊँच-नीच में बंटवारे की एक बुनियाद थी। पवित्रता और अपवित्रता के नियम जातियों और उपजातियों के भीतर भेदभाव और श्रेणी-विभाजन को चिन्हित करने में काम आते थे। इनमें से कुछ लक्षण आपस में घुलने-मिलने और एक साथ खाने-पीने से सम्बंधित थे। उन्हीं से तय होता था कि कौन किसके साथ खाने की पंगत में बैठ सकता है और किनके हाथ का खाना और पानी ले सकता है। केवल बराबर दर्जे वाली जातियों के लोग ही एक पंगत में खा सकते थे। आम तौर पर लोग अपने से ऊँची जाति के लोगों के हाथ से ही खाना और पानी लेते थे, अपने से नीची जाति के हाथ से नहीं।

भोजन की लेन-देन के बारे में शास्त्रीय विधि-निषेध कठोर थे और अब से सौ साल पहले तक जारी थे। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि उन विधि-निषेधों का लगातार क्षरण हुआ है। जीवन और कार्य की आधुनिक परिस्थितियों ने इनमें से बहुतेरों को लुप्तप्राय बना दिया। पवित्रता और अपवित्रता के अतिरेक को कोलकाता और

दिल्ली जैसे शहरों में रहनेवाले पढ़े-लिखे लोग मजाक का विषय समझते हैं। कॉलेज कैंटीन या ऑफिस के भोजन कक्ष में इस तरह के नियमों का पालन करना असंभव है। सार्वजनिक आयोजनों में लोगों को अपनी-अपनी जाति के अनुसार बैठने पर जोर देना आज शर्मनाक घटना मानी जायेगी।

अतीत में, जाति के नियमों के मुताबिक एक-दूसरे के साथ खाने-पीने और शादी-विवाह करने पर लगाये गये रोक का सीधा सम्बंध था। शादी पर रोक अभी समाप्त नहीं हुआ है, लेकिन कुछ हद तक इसमें ढील आयी है। हिंदुओं में, अंतरजातीय विवाह पर पहले कानूनी रोक था। अब वह कानून तो बदल गया, लेकिन जाति के भीतर शादी करने का रिवाज आज भी भारी पैमाने पर देखा जा सकता है। हालाँकि हो यह रहा है कि शादी तय करते समय अन्य बातों के अलावा शिक्षा और आमदनी को भी दिमाग में रखा जा रहा है। बहरहाल, यह बहस करना काफी कठिन है कि पिछले कुछ दशकों से वैवाहिक मामलों में जातिगत चेतना उठान पर है।

राजनीति में, मीडिया में

जाति और पेशे के बीच एक आम जुड़ाव इस हद तक अभी जारी है कि निम्नतम जातियों के लोग बड़े पैमाने पर घटिया और कम मजदूरी वाले कामों में लगे हैं, जबकि ऊपरी जाति के लोगों का झुकाव अच्छी आमदनी और सर्वोत्तम पेशों की ओर है। लेकिन जाति और पेशे के बीच का सम्बन्ध, जमीन और अनाज की परम्परागत अर्थव्यवस्था की तुलना में आज कहीं ज्यादा लचीला है। तेज आर्थिक विकास और मध्यम वर्ग के विस्तार के साथ-साथ व्यक्तिगत अवसर की गतिशीलता ने जाति और पेशों के बीच के सम्बन्ध को और अधिक ढीला किया है।

इन सब के बावजूद, अगर जनता की चेतना पर जातिगत जकड़बंदी न सिर्फ कायम है, बल्कि मजबूत होती जा रही है, तो इसके निश्चित कारण हैं। यह कारण संगठित राजनीति के क्षेत्र में देखा जा सकता है। राजनीति के अखाड़े में जाति का प्रवेश आजादी से पहले ही हो गया था, खास तौर पर भारतीय उपमहाद्वीप में। लेकिन आजादी के बाद सार्विक वयस्क मताधिकार अपनाये जाने के बाद राजनीतिक प्रक्रिया में जाति को घसीटने का ढंग और दायरा बिलकुल बदल गया।

चुनावों के मौके पर जातीय चेतना आगे लायी जाती है। लोकसभा और विधान सभा के चुनाव अब पूरे साल होते

रहते हैं। सामान पहुँचाने और तैयारी से जुड़े दूसरे कारणों से, विधान सभा के चुनाव भी अब कई-कई हफ्ते में पूरे होते हैं। आम चुनावों के अलावा उप-चुनाव भी होते हैं। चुनाव अभियान दिनोंदिन भड़कीले और लगातार खर्चीले होते गये हैं और अक्सर वे आनन्दोत्सव का वातावरण तैयार करते हैं। जाति के आधार पर चुनावी समर्थन जुटाना एक जटिल परिघटना है जिसके नतीजे बेइतिहा अटकलों की गुंजाइश पैदा करते हैं।

बावजूद इसके कि पूरे देश के लिए चुनावी मौसम का कभी भी अंत नहीं होता, कोई खास मतदाता चुनाव की प्रक्रिया में कभी-कभार और छिटपुट रूप से ही भाग लेता है। औसत ग्रामीण मतदाता चुनावी मामलों के बजाय अपने घरेलू मसलों, काम-धाम और पूजा-पाठ में कहीं ज्यादा दिमाग खपाता है। सब को पता है कि शहरों में रहनेवाले भारतीय मतदाता बहुत कम संख्या में वोट देने जाते हैं। लेकिन मतदान केन्द्र तक जाने के लिहाज से भले ही वे चुनाव में भाग नहीं लेते, मगर अप्रत्यक्ष रूप से वे इनमें जरूर भाग लेते हैं, क्योंकि वे टेलीविजन पर देखते रहते हैं कि बाहरी दुनिया में क्या हो रहा है। थोड़ी मात्रा में राजनीतिक शिक्षा के साथ टेलीविजन हमें मनोरंजन की भरपूर खुराक देता है।

निजी टेलीविजन चैनलों ने एक पूरी दुनिया रची है जिसमें उनके संचालक और विशेषज्ञ एक दूसरे के साथ जीवंत संपर्क में रहते हुए “जातिगत घटक” के महत्व का लेखा-जोखा लेते हैं तथा उनके टीकाकार जातियों, उपजातियों और जातियों के समूहों के बीच की प्रतिद्वंद्विता और गंठबंधन की खोजबीन करते हैं, जिनमें से अधिकांश लोगों की देश में दूरगामी बदलावों के रुझान की न तो कोई समझ होती है और न ही उसमें कोई रूचि। ये विचार-विमर्श यह भ्रम पैदा करते हैं कि जाति भारतीय समाज का एक अपरिवर्तनीय लक्षण है। आज जातिगत चेतना को मजबूत करने और हमें इस बात का कायल बनाने के लिए कि जाति भारत की नियति है, मीडिया में जो कुछ चल रहा है, उसे यदि जारी रहने दिया गया तो यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण होगा।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के मानद प्रोफेसर और राष्ट्रीय अनुसन्धान प्रोफेसर हैं। 21 फरवरी के ‘द हिंदू’ में प्रकाशित लेख का अनुवाद, आभार सहित।)

राजनीति में जाति का जुड़ाव जीवंत सामाजिक सच्चाइयों से है

-जोसेफ तारामंगलम

जाति भारतीय सामाजिक जीवन का इतना प्रभावी लक्षण क्यों है? 'द हिंदू' में प्रकाशित लेख "भारत की नियति जाति में जकड़े रहना नहीं," 21 फरवरी में आंद्रे बताई का मानना है कि राजनीति और मीडिया के चलते ही जाति आज

भी जीवित है। भारतीय संविधान ने भी शायद कुछ भूमिका निभाई है। नागरिकों का राष्ट्र और नागरिक अधिकारों की स्थापना के साथ-साथ इसने जाति को भी जीवित रखा। राजनीति के बाहर धीरे-धीरे, लेकिन लगातार होने वाले ढेर सारे बदलावों ने आपसी खान-पान, अंतरजातीय विवाह और जाति आधारित पेशों जैसे कई मामलों में जाति प्रथा और जाति चेतना को रूपान्तरित किया है।

यह आम तौर पर स्वीकृत दृष्टिकोण है और इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं कि समाजशास्त्री जिसको विशिष्टता (टोस) से सर्वव्यापकता (सामान्य) की ओर आगे बढ़ना कहते हैं, आधुनिकता की ताकतें उससे संबद्ध होती हैं। हमने इसे भारत में रेलवे के आने के साथ देखा, जिसमें अलग-अलग जातियों के लिए अलग से डब्बे का इंतजाम नहीं किया गया था। इसलिए हमें यह मान लेना चाहिए कि बताई जिन बदलावों को दर्शाते हैं, भले ही वे उन्हें थोड़ा बढ़ा-चढ़ा के बता रहे हों, लेकिन बदलाव आये हैं। यह तथ्य कि भारत में अपने हाथों से मल-मूत्र साफ करने वाले तीन लाख से भी ज्यादा लोग लगभग पूरी तरह दलित समुदाय से आते हैं, निश्चय ही इस मुद्दे पर गंभीर चिंतन के लिए उकसाता है। यह जानना भी दिलचस्प होगा कि अब से छः दशक पहले बताई ने जिस तमिलनाडु में अपना पीएचडी शोध किया था, वहाँ के गाँवों में आपसी खान-पान कितना है और कितने लोग अंतरजातीय विवाह करते हैं।

पहुँच पर पाबन्दी

बताई के तर्कों के साथ समस्या यह है कि इसमें जाति के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की अनदेखी की गयी है जो लगातार मजबूती के साथ जारी हैं और शायद ठेठ भारतीय विकास के कुछ खास लक्षणों को मजबूत करने में सहायक हैं। जाति के ये पहलू उस भौतिक आधार पर टिके हुए हैं जो जीविका के संसाधनों और जोर-जबर के साधनों के ऊपर

बेहद भेदभावपूर्ण नियंत्रण से तय होता है। इनका इस्तेमाल अब पवित्रता/अपवित्रता के विधि-विधान को जबरन लागू करवाने के लिए नहीं, बल्कि पुराने और नये संसाधनों और अवसरों तक बहुसंख्य दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों की पहुँच पर पाबन्दी लगाने के लिए किया जाता है। जाति की राजनीति को अगर इस सन्दर्भ के बाहर या इन सच्चाइयों से काट कर देखें तो उसे समझ पाना मुमकिन नहीं।

सामाजिक सूचक

भारत के विकास का एक सुस्पष्ट विरोधाभास उन देशज प्रवृत्तियों पर कुछ रोशनी डाल सकता है जिनका शिकार निम्न जातियाँ हैं। ऊँची वृद्धि दर के बावजूद, भारत की हालत प्रतिव्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद और आर्थिक वृद्धि के मामले में निचले स्तर के विकासशील देशों से भी खराब है। प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं और भारतीय संगठनों द्वारा जितने भी तरह के सामाजिक सूचक मुहैया कराये जाते हैं, "जैसे- मानव विकास सूचकांक, बहुआयामी गरीबी सूचकांक, वैश्विक भूख सूचकांक" उन सभी मामलों में स्थिति दयनीय है। मानव विकास सूचकांक के निम्न स्तर (169 देशों की सूची में भारत का 119वाँ स्थान है, जबकि चीन का 89वाँ) के लिए प्राथमिक शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे सामान्य सूचकों का स्तर भी बहुत ही खराब होना जिम्मेदार है। खास तौर पर शिशु मृत्यु दर, कुपोषण, कम वजन और छोटे कद वाले बच्चों तथा कम वजन और खून की कमी वाली गर्भवती महिलाओं के मामले में स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। वैश्विक भूख सूचकांक के मामले में भारत का 66वाँ दर्जा बहुत ही शर्मनाक है जो बांग्लादेश को छोड़ कर अपने दक्षिण एशियाई पड़ोसियों से भी गया-गुजरा है। हमारा देश दुनिया भर में सबसे ज्यादा एकमुश्त भूखे लोगों का ठिकाना है- 25.5 करोड़ लोग, यानी कुल आबादी का 21 प्रतिशत। बहुआयामी गरीबी सूचकांक का भी यही हाल है- 45.5 करोड़ लोग, यानी 55

प्रतिशत आबादी भीषण गरीबी की गिरफ्त में है और आठ भारतीय राज्यों में जितने लोग बहुआयामी गरीबी के शिकार हैं उनकी तादाद 26 बेहद गरीब अमरीकी देशों के कुल गरीबों से भी कहीं ज्यादा है।

इन आँकड़ों के पीछे भारतीय समाज के दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं- पहला इस देश में निम्नवर्ग की एक बहुत ही भारी तादाद है और दूसरा, इन वर्गों में विशेष रूप से बड़ी आबादी निम्न जाति के लोगों की (खास कर दलितों की) और आदिवासियों की है। इन सभी सूचकों के मामले में इन समूहों की स्थिति (10 प्रतिशत से भी ज्यादा का अंतर) काफी बुरी है। उदहारण के लिए, कुल 55 प्रतिशत भारतीय बहुआयामी गरीबी के शिकार हैं, जबकि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति में यह संख्या क्रमशः 65.8 और 81.4 है। ध्यान दें कि जिन राज्यों की स्थिति ज्यादा खराब है, वे वही हैं जहाँ अनुसूचित जाति और जनजाति का अनुपात अधिक है।

हिंसा की व्यवस्था

निम्न जातियों की रसातल जैसी सामाजिक-आर्थिक स्थिति कोई आकस्मिक घटना नहीं, बल्कि यह ऐतिहासिक विरासत में मिले उस ढाँचे में निहित है जिसने बुनियादी बदलाव में बाधा खड़ी की। भारत की ऐतिहासिक असफलताएँ- जमीन के पुनर्वितरण की भ्रूण-हत्या, खेती की उपेक्षा (1960-70 के दशक में हरित क्रांति को छोड़ कर) और जातिगत असमानता पर प्रहार करने में नरम रुख- इन ढाँचों को कायम रखने में मददगार साबित हुईं। इस सन्दर्भ में भारत के यात्रा-पथ की एक पेंचदार बात पर नजर डालना दिलचस्प है कि जिस दौर में इसने वैज्ञानिक, तकनीकी और उच्च शिक्षा के दूसरे रूपों में भारी छलांग लगायी और जिसके चलते आज के मशहूर भारतीय मध्यम वर्ग की संख्या में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई, उसी दौर में प्राथमिक शिक्षा में बहुत ही घटिया रिकॉर्ड रहा (यह स्थिति पूर्वी एशिया के ठीक विपरीत है)।

इस विराट असफलता के लिए एक सफाई यह दी जाती है कि पहले के योजनाकारों ने एक भ्रान्त धारणा को आगे बढ़ाया कि वैज्ञानिक, तकनीकी और उच्च शिक्षा ही भारत में तीव्र आर्थिक विकास के लिए जरूरी है। लेकिन एक दूसरी व्याख्या भी है जिसमें जाति को एक कारक माना गया है। इस नजरिये का एक अच्छा विवरण यह है कि अपनी दिली इच्छाओं के चलते भारत के ऊपरी जातियों के लोगों

को दलितों को शिक्षित करने में कोई लाभ नहीं दिखाई दिया। इससे थोड़ा कम अच्छा विवरण यह तर्क पेश करता है कि निम्न जातियों को शिक्षित करने की योजना को ऊपरी जातियों की ओर से इसलिए विरोध झेलना पड़ा कि इस तरह की परियोजना और इसके चलते निम्न जातियों का ऊपर उठना, निम्नजाति के मजदूरों, आश्रितों और नौकरों को अपने काबू में रखने की उनकी मंशा को मटियामेट कर देगा। बिहार के देहातों में काम करते हुए और उस दौरान इस तरह की गतिविधि का अवलोकन करते हुए मैंने पाया कि इस अंतिम तर्क में थोड़ा दम है।

अंततः, इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि यह ढाँचा महज विचारधारा और अपवित्रता के विधि-विधान से नहीं चलता बल्कि भरपूर हिंसा के दम पर कायम है। वास्तव में यह एक ढाँचागत हिंसा की व्यवस्था है जिसका इजहार लगातार धमकियों और समय-समय पर फूट पड़ने वाली शारीरिक हिंसा के रूप में होता है, जिसे जमीन के मालिक ऊपरी जातियों के लोग इस चुनौती के चलते अंजाम देते हैं कि पहले से चले आ रहे सम्बन्ध बदल रहे हैं और साथ ही निचली जातियों के लोग भी अब विरोध कर रहे हैं और पलटवार भी कर रहे हैं। “दलितों के ऊपर अत्याचार”- हत्या, बलात्कार और आगजनी से लेकर दलित महिलाओं को नंगा करके गाँव में घुमाने और पीड़ितों के मुँह में पेशाब-पखाना डालने जैसे अपमानजनक कुकृत्य तक के भरपूर दस्तावेजी प्रमाण मौजूद हैं। भारतीय सांसदों ने इन घटनाओं को इतना गंभीर माना कि 1989 में “दलितों के विरुद्ध अत्याचार कानून” पारित किया। हालाँकि इस कानून का प्रभावी होना संदिग्ध है, दलित कार्यकर्ता इस बात पर जोर देते हैं कि बिना नीचे से राजनीतिक दबाव बनाये इस कानून को लागू नहीं करवाया जा सकता।

आर्थिक विकास का जो मौजूदा ढर्रा ग्रामीण आबादी और खेतिहर मजदूरों को पहले से भी ज्यादा वंचना की ओर धकेल रहा है, उसे देखते हुए समर्पित कार्यकर्ताओं और अमर्त्य सेन जैसे विद्वानों ने (जिनका भारतीय अकाल के ऊपर किया गया शोध दिखाता है कि भारतीय अकालों के दौरान उसके शिकार होने वालों में दलितों की संख्या बहुत ही अधिक रही है) आह्वान किया है कि वंचित समुदायों के बेहतर राजनीतिक संगठनों के जरिये “समतामूलक सत्ता” का निर्माण किया जाय।

तब आखिर बताई के इस सुझाव का क्या किया जाये कि जाति का बड़ी आसानी से खात्मा हो जाता, अगर इसे राजनीति और मीडिया के दायरे से बाहर कर दिया गया होता? निश्चय ही, उन्होंने खुदगर्ज नेताओं और मीडिया के लोगों द्वारा जाति का दुरुपयोग करने का मामला महत्वपूर्ण रूप से उठाया है। लेकिन जाति के अराजनीतिकरण का जो नुस्खा उन्होंने सुझाया है, उससे कुछ होने वाला नहीं। बेहतर रास्ता शायद वह हो जिसे केरल ने तय किया, जहाँ निम्न जातियों की राजनीतिक लामबंदी को संगठन के व्यापक तार्किक-वैधानिक और सर्वव्यापी रूपों के साथ, जाति समुदाय और धर्म से ऊपर उठ कर गठित ट्रेड यूनियनों और पार्टियों के रूपों के साथ एकीकृत किया गया।

हाँ, हमने छुआछूत को मिटा दिया, अब उस भौतिक आधार को मिटाने की जरूरत है जो छुआछूत को बनाये हुए है और हर रोज भेदभाव और हिंसा के नये रूपों को जन्म दे रहा है।

(लेखक माउन्ट सेंट विन्सेंट यूनिवर्सिटी, हलफैक्स, कनाडा में समाजशास्त्र के मानद प्रोफेसर हैं और आजकल सेंटर फॉर डेवलपमेंट स्टडीज, तिरुअनंतपुरम में आमंत्रित अध्येता हैं। यह लेख 'द हिन्दू' में 7 मार्च को प्रकाशित हुआ था जिसका अनुवाद आभार सहित प्रस्तुत है।)

सामंतवाद से लड़ाई के अपने यौवन-काल में पूँजीवादी लोकतंत्र के पुरोधों में से एक, वाल्टेयर ने कहा था कि मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बात गलत है, लेकिन उस बात को कहने का तुम्हारा अधिकार बरकरार रहे, इसके लिए मैं अपनी जान दे सकता हूँ।

पूँजीवाद के बुढ़ापे के युग में या विकृत-विकलांग पूँजीवादी समाजों में ऐसी बातें अब बीते जमाने की बात हो चुकी हैं। हर जगह जुबानों पर ताला, हर जगह स्वतंत्र विचारों के कातिल। व्यवस्था के चाटुकार साहित्यकार, भाड़े के कलम के कुली-कबाड़ी इस कुकर्म में निर्लज्ज सहभागी बने हुए हैं।

इस बात पर फ़ैज़ की एक छोटी सी नज़्म बेहद मौजू है --

इधर न देखो

इधर न देखो

के जो बहादुर कलम के या तेग के धनी थे
जो अज्मो-हिम्मत के मुद्दई थे
अब उनके हाथों में सिद्ध ईमाँ की
आजमूदा पुरानी तलवार मुड़ गयी है
जो कज कुलह साहबे-चश्म थे
जो अहले-दस्तार मोहतरम थे
हविस के परपेंच रास्तों में
कुलह किसी ने गिरो रख दी
किसी ने दस्तार बेच दी है

उधर भी देखो

जो अपने रख्शाँ लहू के दीनार
मुफ्त बाजार में लुटा कर
नजर से ओझल हुए
और अपनी लहद में इस वक्त तक गनी हैं

उधर भी देखो

जो सिर्फ हक की सलीब पर अपना तन सजा कर
जहाँ से रुकसत हुए
और अहले-जहाँ में इस वक्त तक बनी हैं।

-फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

भगत सिंह को लेकर कुछ गैरवाजिब चिंताएँ

-सुधीर विद्यार्थी

1. भगत सिंह को अकादमिक चिंतन या बौद्धिक विमर्श की वस्तु न बनाया जाये। यह याद रखा जाना चाहिए कि प्रगतिशील और बुद्धिजीवियों के मध्य चर्चा का विषय बनने से बहुत पहले भगतसिंह लोक के बीच नायकत्व हासिल कर चुके थे। उन पर सर्वाधिक लोकगीत रचे और गाये गये। मुझे खूब याद पड़ता है कि अपनी किशोरावस्था में गाँवों में मेलों और हाटों में पान की दुकानों पर आइने के दोनों तरफ और ट्रकों के दरवाजों पर भगतसिंह की हैट वाली तथा चन्द्रशेखर आजाद की मूँछ पर हाथ रखे फोटुएँ हुआ करती थीं। शुरुआत में जनसंघ के लोगों ने भी उन्हें इंकलाब जिंदाबाद का नारा लगाते हुए बम फेंकने वाले एक बहादुर नौजवान, जो हँसते हुए फाँसी का फंदा चूमता है, के रूप में जिन्दा बनाये रखा। प्रगतिशीलों के विमर्श में तो वे बहुत देर से आये। जानना यह होगा कि भगतसिंह या आजाद की जगह लोक के मध्य है। वहीं से दूसरा भगतसिंह पैदा होगा, अकादमीशियनों के बीच से नहीं।

2. इस समय को पहचानिए कि जहाँ बिग बी के साथ भोजन करने की नीलामी दस लाख रुपये तक पहुँच रही हो, जिस समाज में मुन्नी बदनाम होती है तो फिल्म हिट हो जाती है यानी बदनाम होने में अब फायदा है सो इसे हम बदनाम युग की संज्ञा दे सकते हैं, कॉमनवेल्थ खेलों में जहाँ पग-पग पर हमें गुलाम होने का अहसास कराया जाता हो और हम गुलाम रहकर खुशी का अनुभव भी कर रहे हों (इसी कॉमनवेल्थ का तो कवि शंकर शैलेंद्र ने अपने मशहूर गीत 'भगतसिंह से' में विरोध किया था जिसमें कहा गया था- मत समझो पूजे जाओगे क्योंकि लड़े थे दुश्मन से/रुत ऐसी है आँख लड़ी है अब दिल्ली की लंदन से। कॉमनवेल्थ कुटुम्ब देश का खींच रहा है मंतर से/प्रेम विभोर हुए नेतागण रस बरसा है अंबर से) तो ऐसे निकृष्ट संस्कृति विरोधी और इतिहास विरोधी समय में हमें बहुत सतर्क रहने की जरूरत है कि भगतसिंह को याद करने का अर्थ केवल एक समारोह अथवा प्रदर्शनप्रियता में तब्दील होकर न रह जाये। मैं मानता हूँ कि भगतसिंह को सेमिनारों और जेएनयू मार्का विश्वविद्यालयी

चर्चाओं से बाहर निकाल कर उन्हें जनता के मध्य ले जाने की पहल करने का उपयुक्त समय भी यही है।

3. मेरा निवेदन है कि भगतसिंह को कृपया देवत्व न सौंपें और न उन्हें क्रान्ति का आदिपुरुष बनायें। भगतसिंह कोई व्यक्ति नहीं थे, अपितु उनके व्यक्तित्व में संपूर्ण भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का वैचारिक विकास बोल रहा है। सत्तर साल लम्बा क्रान्तिकारी आंदोलन ने भगतसिंह को पैदा किया। भगत सिंह उस आंदोलन को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करने वाले एक व्यक्ति ही थे। वे स्वयं विकास की प्रक्रिया में थे। कल्पना करिए कि यदि भगतसिंह की जेल में लिखी चार पुस्तकें गायब न हो गयी होतीं तब उनके चिंतन और बौद्धिक क्षमताओं का कितना बड़ा आयाम हमारे सम्मुख प्रकट हुआ होता। दूसरे यह कि आगे चलकर भारतीय क्रान्ति के मार्ग पर उन्हें और भी बौद्धिक ऊँचाई हासिल करनी थी। पर इस सबको लेकर उनके मन में कोई गर्वोक्ति नहीं थी, बल्कि एक विनीत भाव से उन्होंने स्वयं सुखदेव को संबोधित करते हुए कहा था कि क्या तुम यह समझते हो कि क्रान्ति का यह उद्यम मैंने और तुमने किया है। यह तो होना ही था। हम और तुम सिर्फ समय और परिस्थितियों की उपज हैं। हम न होते तो इसे कोई दूसरा करता। और कितना आत्मसंतोष था उस व्यक्ति के भीतर जिसने बलिदान से पूर्व यह भी कहा कि आज मैं जेल की चहारदीवारी के भीतर बैठकर खेतों, खलिहानों और सड़कों से इंकलाब जिंदाबाद का नारा सुनता हूँ तो लगता है कि मुझे अपनी जिन्दगी की कीमत मिल गयी और फिर साढ़े तेईस साल की इस छोटी सी जिन्दगी का इससे बड़ा मोल हो भी क्या सकता था।

4. आवश्यक तौर पर देखा यह भी जाना चाहिए कि भगतसिंह के साथ पूरी क्रान्तिकारी पार्टी थी। हम पार्टी और संपूर्ण आंदोलन को क्यों विस्मृत कर जाते हैं। हम यह क्यों नहीं याद रखते कि भगत सिंह के साथ चन्द्रशेखर आजाद का सर्वाधिक क्षमतावान और शौर्यमय नेतृत्व था। क्या भारतीय क्रान्तिकारी आंदोलन का मस्तिष्क कहे जाने वाले कामरेड भगवतीचरण वोहरा पार्टी के कम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे, जिन्होंने

बम का दर्शन जैसा तर्कपूर्ण और बौद्धिक प्रत्युत्तर देने वाला पर्चा ही नहीं लिखा, बल्कि नौजवान भारत सभा और हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के घोषणापत्र आदि उन्होंने लिपिबद्ध किये। हमने विजय कुमार सिन्हा, जिन्हें दल में अंतरराष्ट्रीय संपर्कों और प्रचार-प्रसार की बड़ी जिम्मेदारी सौंपी गयी थी, को भी भुलाने योग्य मान लिया। यह सच है कि हम विजय दा से भगतसिंह की एक फुललेन्थ की जीवनी की अपेक्षा कर रहे थे जो उनके जीवित रहते पूरी नहीं हो पाई। पर मेरा यहाँ जोर देकर कहना यह है कि हमने बटुकेश्वर दत्त से लेकर सुशीला दीदी, धन्वंतरि, सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य मास्टर रुद्रनारायण सिंह आदि सबको भुलाने देने में पूरी तरह निर्लज्जता का परिचय दिया। हमने इनमें से किसी की शताब्दी नहीं मनायी। यह सब स्वतंत्र भारत में जीवित रहे पर हमने इनमें से किसी क्रान्तिकारी की खैर खबर नहीं ली। क्या पूरी पार्टी और उसके सदस्यों के योगदान और अभियानों को विस्मृत करके अपनी समारोह प्रियताओं के चलते भगतसिंह को हम उस तरह का तो नहीं बना दे रहे हैं- उतना ऊँचा और विशाल, जिसकी तस्वीर को फिर अपने हाथों से छूना मुश्किल हो जाये हमारे लिए। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम अपनी आत्ममुग्धताओं में ही डूबे यह सब देख समझ ही न पा रहे हों। इससे भविष्य के क्रान्तिकारी संग्राम को बड़ा नुकसान होगा क्योंकि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में संघर्ष की पूरी और सही तस्वीर को देख पाने में हम सर्वथा असमर्थ होंगे।

5. भगतसिंह के स्मरण के साथ एक खतरा यह भी है कि पिछले कुछेक वर्षों से हम देख रहे हैं कि उन्हें पगड़ी पहनाने का षड्यन्त्र बड़े पैमाने पर किया जाने लगा है। पर पंजाब के उस क्रान्तिकारी नौजवान का सिर इतना बड़ा हो गया कि अब उस पर कोई पगड़ी नहीं पहनायी जा सकती है। हम वैसा भ्रम भले ही थोड़ी देर को अपने भीतर पाल लें। यद्यपि शताब्दी वर्ष पर तो यह खुलेआम बहुत बेशर्मी के साथ सम्पन्न हुआ। देखा जाये तो हुआ पहले भी था जब मैं पंजाब के मुख्यमंत्री श्री दरबारा सिंह के आमंत्रण पर 1982 में चण्डीगढ़ में उनसे मिलने आया तो देखा कि उनके कार्यालय में भगतसिंह का जो चित्र लगा है उसमें उन्हें पगड़ी पहनायी गयी है। अब विडंबना देखिए कि कोई आज उस पगड़ी को केसरिया रंग रहा है तो कोई लाल। इसमें आरएसएस से लेकर हमारे प्रगतिशील मित्र तक किसी तरह पीछे नहीं हैं। एक सर्वथा धर्मनिरपेक्ष क्रान्तिकारी शहीद को धर्म के खाँचे में

फिट किये जाने की कोशिशों से सावधान रहना चाहिए। यहाँ अपनी बात कहने का हमारा अर्थ यह भी है कि सब भगतसिंह को अपने अपने रंग में रंगने का प्रयास कर रहे हैं। कोई कहता है कि वे जिन्दा होते तो नक्सलवादी होते। उनके परिवार के ही एक सदस्य पिछले दिनों उन्हें आस्तिक साबित करने की असफल कोशिशें करते रहे। यह कह कर कि भगतसिंह की जेल नोटबुक में किसी के दो शेर लिखे हुए हैं जिनमें परवरदिगार जैसे शब्द आए हैं जो उनकी आस्तिकता को प्रमाणित करते हैं। सर्वाधिक तर्कहीन ऐसे वक्तव्यों की हमें निंदा ही नहीं, अपितु इसका विरोध करना चाहिए। यादविन्दर जी को भगतसिंह का लिखा 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' जैसा आलेख आँखें खोल कर पढ़ लेना चाहिए। मैं यहाँ निसंकोच यह भी बताना चाहता हूँ कि दूसरे राजनीतिक दल भी बहुत निर्लज्ज तरीके से इस शहीद के हाथों में अपनी पार्टी का झण्डा पकड़ने का काम करते रहे जो कामयाब नहीं हुआ। धार्मिक कट्टरता और पुनरुत्थानवाद के इस युग में भगत सिंह की वास्तविक धर्मनिरपेक्षता की बड़ी पैरोकारी की हम सबसे अधिक जरूरत महसूस करते हैं। लेकिन ऐसे में जब गाँधी और जिन्ना को भी डंके की चोट पर धर्मनिरपेक्ष बताया जा रहा हो, और भाजपा के अलंबरदार स्वयं को खालिस और दूसरों को छद्म धर्मनिरपेक्ष बताते हों तब वास्तविक धर्मनिरपेक्षता जो नास्तिकता के बिना सम्भव नहीं है, उसका झण्डा कौन उठाए? यह साफ तौर पर मान लिया जाना चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सर्व धर्म समभाव कतई नहीं है जैसा कि हम बार-बार, अनेक बार प्रचारित करते और कहते हैं। यह हमारा सर्वथा बेईमानी भरा चिंतन है जिसका पर्दाफाश किया जाना चाहिए। विचार यह भी किया जाना चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता आखिर कितनी तरह की? रघुपति राघव राजाराम जपने वाले गाँधी भी धर्म निरपेक्ष थे, मजहब के नाम पर मुस्लिम होमलैंड ले लेने वाले जिन्ना भी धर्मनिरपेक्ष थे और भगतसिंह भी। तब इनमें से कौन सही धर्मनिरपेक्ष है, और धर्मनिरपेक्षता आखिर है क्या बला?

6. इधर भगतसिंह को संसद का पक्षधर साबित करने के भी प्रयत्न हुए और हो रहे हैं। संसद में भगतसिंह का चित्र या मूर्ति लगवाने का क्या अर्थ है। जिस संसदीय चरित्र और उसकी कार्यवाहियों के विरोध में उन्होंने, दल के निर्णय के अनुसार पर्चा और बम फेंका, क्या आज उस संसद और उसके प्रतिनिधियों की चाल-ढाल और आचरण बदल कर लोकोन्मुखी

और जनपक्षधर हो गया है। यदि नहीं तो क्यों भगतसिंह पर काम करने वाले उन पर पुस्तकें जारी करवाने के लिए किसी सांसद अथवा मंत्री की चिरौरी करते हुए दिखाई पड़ते हैं। क्या हम वर्तमान संसदीय व्यवस्था के पैरोकार या पक्षधर होकर भगतसिंह को याद कर सकते हैं। आखिर क्यों भगतसिंह की शहादत के 52 वर्षों बाद उनकी बहन अमर कौर को भारत की वर्तमान संसद के चरित्र और उसकी कार्यप्रणाली पर उँगली उठाते हुए वहाँ घुसकर पर्चे फेंकने पड़े, जिसमें उठाए सवालों पर हमें गौर करना चाहिए। पर इस मुक्त देश में पसरा टंडापान देखिए कि किसी ने भी 8 अप्रैल 1983 को अमर कौर की आवाज में आवाज मिलाकर एक बार भी इंकलाब जिंदाबाद बुलंद नहीं किया, जबकि यह दर्ज रहेगा कि इसी गुलाम देश ने तब भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के स्वर में अपना स्वर बखूबी मिला दिया। जानने योग्य यह भी है कि पिछले दिनों संसद में भगतसिंह की जो प्रतिमा लगी उसमें वे पगड़ी पहने हुए हैं और वहाँ उनके साथ बम फेंकने वाले उनके अभिन्न बटुकेश्वर दत्त नदारद हैं।

7. जरूरी है कि भगतसिंह को याद करने और उनकी पूजा या पूजा के नाटक में हम फर्क करें। आज सारे जनवादी और प्रगतिशील राजनीतिक व सांस्कृतिक सामाजिक संगठन भगतसिंह को याद कर रहे हैं। दक्षिणपंथी और मध्यमार्गी भी। यह चीजों को घालमेल करने की धिनौनी कोशिशें हैं ताकि असली भगतसिंह अपनी पहचान के साथ ही अपना क्रान्ति भी खो बैठें। आखिर क्या कारण है कि भगतसिंह आज तक किसी राजनीतिक पार्टी के नायक नहीं बन पायें। यह सवाल बड़ा है कि आजाद की शहादत के बाद हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ को पुनर्जीवित करने के कितने और कैसे प्रयास हुए और वे कामयाब नहीं हुए तो क्यों? और क्यों आजादी के बाद कोई राजनीतिक दल हिंसप्रस का झण्डा पकड़ने का साहस नहीं कर सका?

8. विचार यह करिए कि अब भावी इंकलाब का आधार क्या होगा। आजाद के नेतृत्व में भगतसिंह और दूसरे सारे युवा क्रान्तिकारी अधिकांशतः मध्यवर्ग से आये थे। आज पूँजीवादी व्यवस्था और बाजार के अनाप-शनाप विस्तार ने मध्यवर्ग को नागरिक से उपभोक्ता में तब्दील कर दिया है। नयी पीढ़ी पूरी तरह कैरियर में डूबी है। उसके सपनों में अब देश और समाज नहीं है। वहाँ नितांत लिजलिजे व्यक्तिगत सपनों की

कंटीली झाड़ियाँ उग आयी हैं। समाज टूट रहा है तो सामाजिक चिंताएँ कहाँ जन्मेंगी। निम्न वर्ग जिन्दगी जीने की कशमकश में डूबा रह कर दो जून की रोटी मुहैया नहीं कर पा रहा है तो दूसरी ओर उच्च वर्ग क्रान्ति क्यों चाहेगा? क्या अपने विरुद्ध? ऐसा तो सम्भव ही नहीं है। तब फिर क्रान्ति का पौधा कहाँ पनपेगा और उसे कौन खाद-पानी देगा। यह बड़ा सवाल हमारे सामने मुँह बाये खड़ा हुआ है और हम हवा में मंचों पर क्रान्ति की तलवारें भाँज रहे हैं। हम जो थोड़ा बहुत क्रान्ति के नाम पर कुछ करने की गलत फहमियाँ पाल रहे हैं, क्या वह हमारा वास्तविक क्रान्तिकारी उद्यम है। कौन जानता है हमें। जिनके लिए क्रान्ति करने का दावा हम करते रहे हैं, वे भी हमसे सर्वथा अपरिचित हैं। आप जेएनयू के किसी एअर कंडीशंड कमरे में तीसरी मंजिल पर बैठकर तेरह लोग क्रान्ति की लफ्फाजी करेंगे तो देश की जनता आपको क्यों पहचानेगी। याद रखिए कि जेएनयू देश नहीं है। पूछिए इस मुल्क के लोगों से छोटे शहरों, कस्बों, देहातों में जाकर अथवा सड़क पर चलते किसी आम आदमी को थोड़ा रोककर इन बौद्धिक विमर्श करने वाले लोगों के बारे में पूछिए तो वह मुँह बिचकायेंगे। वे तो इनमें से किसी को भी जानते बूझते नहीं। तो आप कर लीजिए क्रान्ति इस देश की साधारण जनता आपसे परिचित नहीं है। न आप उसके साथ खड़े हैं, न ही वह आपके साथ। ऐसे में क्या आप जनता के बिना क्रान्ति करेंगे? लगता है कि इस देश में अब थोड़े से हवा हवाई लोग ही क्रान्ति की कार्यवाही को संपन्न करने का ऐतिहासिक दायित्व पूरा कर लेंगे। जनता अब उनके लिए गैरजरूरी चीज बन गयी है।

9. आज भाषा का मुद्दा सबसे बड़ा मुद्दा है। यह आजादी के सवाल से गहरे तक जुड़ा हुआ है। अपनी भाषा के बिना आप आजादी की कल्पना नहीं कर सकते। पर आज सब ओर गुलामी की भाषा सिर माथे और उसकी बुलंद जयजयकार। भाषा का मामला सिर्फ भाषा का नहीं होता, वह संस्कृति का भी होता है। भगतसिंह ने यों ही भाषा और लिपि की समस्या से रूबरू होते हुए अपनी भाषाओं की वकालत नहीं की थी। क्या हम अंग्रेजी के बिना एक कदम भी आगे नहीं चल सकते? भाषा आज सबसे अहम मुद्दा है। हम उस ओर से आँखें न मूँदें और न ही उसे दरकिनार करें। भाषा के बिना राष्ट्र अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता।

10. अब तीन अन्य गौर करने वाली बातों पर हम अपना पक्ष और चिंताएँ प्रकट करेंगे। वह यह कि आज भी ईमानदारी से भगतसिंह को याद करने वालों को वर्तमान सत्ता और व्यवस्था उसी तरह तंग और प्रताड़ित करती है, जिस तरह साम्राज्यवादी हुकूमत किया करती थी। शंकर शैलेन्द्र का 'भगतसिंह से' गीत गाने पर संस्कृतिकर्मियों पर यह कह कर प्रहार किया जाता है कि यह गीत 1948 में सरकार ने यह कह कर जब्त किया था कि यह लोकप्रिय चुनी हुई सरकार के विरुद्ध जनता के मन में घृणा पैदा करता है। मैं स्वयं जानना चाहता हूँ कि क्या शंकर शैलेन्द्र के इस गीत पर से 1948 के बाद से अभी तक सरकारी पाबंदी हटी है अथवा नहीं। यदि ऐसा हुआ है तो कब? दूसरा यह कि कई वर्ष पहले पाकिस्तान की फौज हुसैनीवाला से भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव के स्मारकों को तोड़कर ले गयी। हमने क्यों नहीं अब तक उन स्मारकों की वापसी की माँग पाकिस्तान सरकार से की। क्या वह हमारा राष्ट्रीय स्मारक नहीं था। और तीसरा बिन्दु यह है कि कुछ वर्ष पहले उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में एक महोत्सव हुआ था, मेला लगा था। यह तब की बात है जब भगतसिंह पर एक साथ कई-कई फिल्मों आयी थीं यानी हमारे बॉलीवुड को भी क्रान्ति करने का शौक चर्चाया था। बाजार और बॉलीवुड में यदि भगतसिंह को बेचा जा सकता है तो इसमें हर्ज क्या है। बाजार हर चीज से मुनाफा कमाना चाहता है। पर मैं यहाँ फिल्मों में भगतसिंह को बेचने की बात नहीं कर रहा, न ही इस बात पर चिन्ता प्रकट कर रहा हूँ कि उन्होंने तुडुक-तुडुक और बल्ले-बल्ले करके भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारी नायक को पर्दे पर नाचता दिखा दिया। मैं यहाँ बात कुछ दूसरी कहना चाहता हूँ। लखनऊ के उस मेले में एक रेस्ट्रॉ बनाया गया था जिसका दरवाजा लाहौर जेल की तरह निर्मित किया गया। उसमें बैरों को वह ड्रेस पहनायी गयी थी जिसे जेल के भीतर भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव ने पहना था। पानी जो वहाँ परोसा जा रहा था उसे काला पानी का नाम दिया गया था और घिनौनापन देखिए कि खाने के नाम पर स्वराज्य चिकन और काकोरी कबाब। यह हद से गुजर जाना है। लखनऊ एक प्रदेश की राजधानी है-सांस्कृतिक संगठनों और राजनीतिक दलों का केंद्रीय स्थान। पर सब कुछ कई दिनों तक उस जगह ठीक-ठाक चलता रहा। कोई हलचल नहीं। कोई विरोध नहीं। क्या हम वास्तव में मर चुके हैं, क्या हमारे भीतर कोई राष्ट्रीय चेतना शेष नहीं

है। क्या हमें अपने राष्ट्रीय नायकों और शहीदों का अपमान कतई विचलित नहीं करता। क्या इतिहास के सवाल हमारे लिए इतने बेमानी हो गये हैं कि वे हमारे भीतर कोई उद्वेलन पैदा नहीं करते। कुछ लोग थोड़े वर्षों से तीसरा स्वाधीनता आंदोलन नाम से एक संगठन चला रहे हैं। शहीदेआजम भगतसिंह के दस्तावेजों को सामने लाने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम करने वाले प्रो. जगमोहन सिंह जी भी उससे जुड़े हैं। पर इस संगठन के चिंतन के प्राथमिक बिन्दु पर गौर करिये कि आंदोलन चलाने से पहले ही उसने घोषित कर दिया कि इंडिया गेट को ध्वस्त कर वहाँ शहीदों की बड़ी मीनार बनाना है। क्या यही इस देश का तीसरा स्वतंत्रता युद्ध होगा। कल तक हम अपने बीच बचे रहे जिन्दा शहीदों को कोई सम्मान और आदर नहीं दे पाये, उनकी ओर आँख उठाकर भी हमने देखा नहीं, उन्हें ठंडी और गुमनाम मौत मर जाने दिया पर आज उनके ईंट पत्थर के बुत खड़े करने में हमारी गहरी दिलचस्पी है। भगतसिंह को याद करने वाले संगठन कितनी गलतफहमियों में जी रहे हैं यह देखने के लिये आँखों को ज्यादा फैलाने की आवश्यकता नहीं है। क्या यह भी गौर करने लायक सच्चाई और त्रासदी नहीं है कि वामपंथी और साम्यवादी आंदोलन ही नहीं भगतसिंह के अनुयायी कहे जाने वाले लोगों और संस्थाओं ने भी सैद्धांतिक मीनमेख और थोड़े विमर्शों में स्वयं को अधिक उलझा लिया है। उनके बीच निर्लज्ज किस्म की संकीर्णताएँ भी विद्यमान हैं। भगतसिंह का नाम स्वयं को प्रतिष्ठित करने के लिए लिया जाना कतई ठीक नहीं।

(समकालीन तीसरी दुनिया/मार्च 2012 से साभार)

सावधान

जहाँ-जहाँ

उपस्थित हो तुम

वहाँ-वहाँ

बंजर

कुछ नहीं रहना चाहिए

निराशा का

कोई अंकुर फूटे जिससे

तुम्हें

ऐसा कुछ नहीं कहना चाहिए!

-भवानी प्रसाद मिश्र

रचनाकार का सामाजिक दायित्व

-सत्यनारायण पटेल

(26 जनवरी 2012 को बान्दा जिले में शबरी संस्थान द्वारा 'प्रेमचन्द स्मृति सम्मान' के आयोजन में दिया गया वक्तव्य। यह सम्मान सत्यनारायण पटेल को कहानी संग्रह- 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना' के लिए प्रदान किया गया।)

साथियो

आज आपके बीच आकर मुझे अच्छा लग रहा है और कुछ असमंजस में भी हूँ। कुछ समझ नहीं आ रहा है कि मैं आप लोगों से कैसे मुखातिब होऊँ...? कैसे पेश आऊँ...? मुझमें मौकों के मुताबिक पेश आने का हुनर नहीं है शायद।

मैं जिस दुनिया में रहता हूँ, उसमें होने वाली राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हलचल मेरे भीतर भी उथल-पुथल मचाती रहती है। बाहर से ज्यादा मेरे भीतर तरह-तरह से टूट-फूट होती रहती है। कभी खुद से तो कभी पूँजीवादी व्यवस्था, जो कि अव्यवस्था का उत्कृष्ट उदाहरण है, के प्रतिनिधियों से तमाम सवालों की दरकार रहती है। मैं अपने भीतर ज्वारभाटों की तरह उठती नुकीले सवालों की लहरों को चाहकर भी किसी रचनात्मक कौशल से कलात्मक कब्र में दफन नहीं कर सकता। सवालों के जवाब की खोज मुझे चैन से नहीं रहने देती है। अपने सवालों के जवाब में जब पूँजीवादी व्यवस्था के बूटों की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ठोकड़ों से खुद को जख्मी पाता हूँ, तो फिर मेरे कानों में प्रतिरोध का संगीत गूँजता है। शायद इसलिए ही मुझे प्रतिरोध की संस्कृति सुहाती है, अपनी लगती है। कला का कोई रूप हो साहित्य, संगीत, चित्र, फिल्म, आदि-आदि अगर उसमें शोषण के खिलाफ, अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध की चिन्कारियाँ फूल नहीं खिलती हैं... तो वह मुझे जरा भी प्रभावित नहीं करती है। बोदी लगती है।

मुझे कला का वह हर रूप पसंद है, जिसमें हर तरह की जड़ता, रूढ़ियाँ, अवैज्ञानिकता और मानवीयता को रौंदते विकास के क्रूर पहिये के खिलाफ प्रतिरोध की चिन्कारियाँ चमकती हों, जिसमें अपनी भाषा, बोली, लोक गीत, लोक कथा, लोक संगीत, खान-पान, रहन-सहन यानी सम्पूर्ण लोक संस्कृति को सम्मान मिलता हो। आज पूँजीवाद हमारे जीवन में न सिर्फ आर्थिक असमानता की खाई को चौड़ी कर रहा है, बल्कि वह सुनियोजित ढंग से हमारी लोक संस्कृति को भी धीरे-धीरे हाशिये पर धकेल रहा है। मेरी कोई भी कहानी

हो भेम का भेरू माँगता कुल्हाड़ी ईमान, लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना या कोई और हो। मैंने अपनी कहानियों में शोषित, दमित, ठगाये हुए आदमी और उसकी लोक संस्कृति, लोक संघर्ष के स्वर को बुलंद करने की कोशिश की है। मेरी कोशिश कितनी कामयाब हुई या नहीं... ये तो पाठक, समीक्षक और आलोचक ही बेहतर बता सकेंगे। लेकिन मेरी लेखकीय प्रतिबद्धता, चिन्ता और संघर्ष अपनी भाषा, बोली और लोक संस्कृति को सम्मान के साथ जीवित रखने के लिए है। आज रोज कोई न कोई बोली, भाषा और संस्कृति का कोई रूप पूँजी की भाषा, संस्कृति की साजिश का शिकार होकर दम तोड़ रही है। जरूरत पड़ने पर... मैं अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए... वैसा साहस दिखाना चाहता हूँ... जैसे कोई अपने प्राण की रक्षा के लिए दिखता है। मेरे प्राण और मेरी लोक संस्कृति मुझे समान रूप से प्यारे हैं। इसलिए मैं खुद को प्रतिरोध की लोक संस्कृति के करीब पाता हूँ। किसी भी कलात्मक रचना में चेतना की चिन्कारियाँ देखना चाहता हूँ... ऐसी चिन्कारियाँ... जो पूँजीवादी व्यवस्था को झुलसाती हो। मैं पूँजीवादी व्यवस्था की राख देखने के सपने से भरा, आपके ही बीच का साधारण इंसान हूँ।

कुछ-कुछ असमंजसता और कुछ-कुछ घबराहट इसलिए हो रही है कि आप मुझसे कहीं ऐसी उम्मीद न लगाये बैठे हों कि मैं आपको अपने वक्तव्य से मंत्रमुग्ध कर दूँगा। मुझमें वह कौशल नहीं है। मैं आपसे रू-ब-रू कहानी, किस्सों के मार्फत होऊँ या साक्षात... सीधे-सीधे बात करना मेरे स्वभाव का हिस्सा है। आपको जैसा भी लगे... पर मैं वैसे ही पेश आ सकूँगा... जैसा हूँ...।

आज अपनी बात शुरू करूँ... उससे पहले मैं 'प्रेमचन्द स्मृति सम्मान' की जूरी का शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ, जिन्होंने मेरे द्वारा लिखी कहानियों की किताब- 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना' को इस सम्मान के योग्य समझा... और मुझे आपसे रू-ब-रू होने का अवसर उपलब्ध कराया। मैं शबरी संस्थान, बान्दा के साथियों का भी शुक्रिया अदा करना चाहता

हूँ, जिन्होंने शोषितों की कहानियाँ कहने वाले, बहुसंख्य समाज के लाडले कथाकार-उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द के नाम से यह सम्मान देने की अच्छी शुरुआत की। यह प्रेमचन्द और उनकी तरह रचनारत साधियों के प्रति स्नेह व्यक्त की, उनका हौसला अफजाई करने की, उन्हें यह एहसास दिलाने की कि हम उनके साथ है... जो बहुसंख्य शोषितों की आवाज को बुलंद करने में प्रयासरत हैं। आपकी इस कोशिश का, इस पहल का... इस पक्षधरता का... मैं हृदय से सम्मान करता हूँ। आभार मानता हूँ।

मैं आपको बता दूँ कि मैं एक छोटे किसान परिवार से हूँ। देवास जिले में गाँव नारायण गढ़ “मकोड़िया” मेरा पैतृक गाँव है और मैं ननिहाल “गाँव-लोहार पिपल्या, जिला-देवास” में पला-बड़ा हूँ। ननिहाल में नानाजी भी छोटे किसान ही थे। युवा अवस्था तक खेती-किसानी और तरह-तरह की मजदूरियों से मेरा गहरा रिश्ता रहा है। हालाँकि अब मैं छोटी-मोटी नौकरी जरूर करता हूँ... पर वह भी किसी असंगठित मजदूर जैसी ही है।

अभी भी खेती-किसानी और मजदूरी से मेरा रिश्ता टूटा नहीं है। टूट भी नहीं सकता। भले ही पूँजीवादी व्यवस्था की अनीतियाँ खेती-किसानी के रकबे को लगातार कम कर-कर के एक दिन पूरी तरह समाप्त ही क्यों न कर दे...? जैसे-जैसे पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतिनिधि खेती-किसानी का काम करना मुश्किल... और जमीन को हड़पना आसान बनाते जा रहे हैं... वैसे-वैसे मेरे जेहन में खेती का रकबा विस्तार पा रहा है। खेती को पूँजीवादी दैत्यों के पंजों से बचाने की इच्छा और चिंता बलवती होती जा रही है। कभी अपने भीतर ‘लाल छोट वाली लूगड़ी का सपना’ कहानी के पात्र डूँगा का प्रतिरोध स्वरूप खँजड़ी बाजाना सुनता-महसूस करता हूँ। कभी ‘पनही’ कहानी के पूरण की तरह पत्थर पर छूरी को धार करते देखता हूँ। कभी ‘भेम का भेरू...’ की सकीना की तरह आँखों में सवाल भर कर पूँजीवादी व्यवस्था की कोख से जन्में सवालों और समस्याओं को घूरता हूँ। मैं अपने द्वारा कही कहानियों के पात्रों का भी ऋणी हूँ... जिन्हें जानते-समझते मैंने अपनी समझ का भी विस्तार किया है। आज इस मौके पर उन सभी का आभार भी मानता हूँ।

मैंने कहानी कही और आपने पुरस्कार दे दिया। लेकिन कहानियों के पात्र आज भी अपने खेतों में जुते हुए हैं। उनकी गर्दन पर रखा है पूँजीवादी व्यवस्था का जुआ... जो लगातार उनकी रगों से सोखता है मुनाफा।

किसान को कम्पनियों का महँगा बीज खरीदने के लिए

बाध्य किया जा रहा है। महँगा बीज जब बोदा, खराब निकल जाता है, कहीं कोई सुनवाई नहीं होती। किसान ठगा-सा रह जाता है। खाद, दवा और खेती के उपकरणों के दाम भी आसमान चीरते जा रहे हैं। आज अनियंत्रित मूल्य दरों की वजह से पूँजीपति और सत्ताएँ मिलकर मुनाफा ऐंठ रही हैं। ऐसी कई वजह हैं जो किसान को खेती से अलग कर रही हैं।

हमारे इस तथाकथित ‘महान’ देश के किसानों “जो कि हमारे देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है” की स्थिति पर एक नजर डालें... तो हम पायेंगे कि 1995 से...बल्कि उसके कुछ पहले से ही... अब तक... यानी महज 16-17 बरसों में लगभग 2,57,996 किसानों ने आत्महत्या की है।

बातचीत में लोग कहते हैं कि आत्महत्या करना कायरता है...। लेकिन मैं कहना चाहता हूँ कि किसानों की आत्महत्या को कायरता मानना एक ऐतिहासिक चूक है। सच्चाई से आँखें फेरना है। मुझे किसान कायर नहीं लगते हैं। मुझे लगता है कि जब किसान के पास इस क्रूर व्यवस्था का प्रतिरोध करने का कोई और रचनात्मक रास्ता नहीं बचता... जब गलत नीतियाँ किसान के सपने को रौंदती हैं... उसकी मेहनत का मजाक उड़ाती है। तब वह ऐसी क्रूर और मानव विरोधी “अ” नीतियों के प्रतिरोध स्वरूप आत्महत्या करता है। वह संदेश देता है कि भले ही इस पूँजीवादी व्यवस्था पर तात्कालिक रूप से विजय प्राप्त नहीं कर सकता है...पर इस बात से भयभीत होकर... इस पूँजीवादी व्यवस्था की अधीनता भी स्वीकार नहीं कर लेना चाहता है। अगर कोई किसान के इस साहसिक प्रतिरोध को कायरता समझता है... तो ऐसी समझ से... मैं खुद को असहमत पाता हूँ।

सच तो ये है कि किसान के संघर्ष, उसकी जीवटता, उसकी जिजीविषा और मेहनत करने की क्षमताओं का हमारे पास कोई विकल्प नहीं है। कोई तोड़ नहीं है। उसे क्यों ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था के सामने हाथ फैलाने या गिड़गिड़ाने की जरूरत पड़ती है... जो उसी का खून-पसीना पीकर फलती-फूलती है...? उसे अपने आत्माभिमान की रक्षा करने का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए...?

मैं बेचैन भी हो जाता हूँ यह सोचकर कि आत्महत्या करते इस किसान ने कभी अपने हाथ में हथियार थाम लिया...और उसने यह मान लिया कि वह इस रास्ते पर चलकर अपना सम्मान, खेत, जीवन, लोक संस्कृति, भाषा, बोली, साहित्य, कला, संगीत को पूँजीवादी व्यवस्था के खूनी पँजों से बचा सकता है और बचा कर रहेगा... तब... क्या होगा...? आज भी देश में सत्तर प्रतिशत लोगों का जीवन खेती-किसानी पर आधारित है। क्या

हमारे देश के 13 लाख सैन्य बलों की ताकत सवा अरब में से सत्तर प्रतिशत लोगों के इरादों को कुचलने में सफल हो सकेगी...? यह देश की व्यवस्था चलाने वाले कर्णधारों के ही सोचने की नहीं... बल्कि आप-हम के सोचने की भी बात है...?

अभी महाराष्ट्र के जैतापुरा में, तमिलनाडु के कुडानकुलम में परमाणु उर्जा संयंत्र परियोजना शुरू करने की जिद्द हम देख ही रहे हैं। वहाँ की जनता इसे स्वीकार नहीं कर रही है। उनका साफ-सुथरा सवाल है कि जब दुनिया के अनेक हिस्से में परमाणु परियोजनाओं को धीरे-धीरे बन्द करने के निर्णय लिये जा रहे हैं...। रूस के चर्नोबिल और जापान के फुकुशिमा में परमाणु संयंत्रों में हुई दुर्घटनाओं से देश और दुनिया वाकिफ है...। और जहाँ परमाणु संयंत्र स्थापित होते हैं... वहाँ ऐसी दुर्घटनाएँ संभाव्य हैं... जानते हुए भी... सरकार हमारी रोजी-रोटी और जिन्दगी की परवाह किये बगैर... जबरन इस परमाणु परियोजना को क्यों स्थापित करना चाहती है...? सरकार का उत्तरदायित्व किसके प्रति है...? हमारे अपने देशवासियों की जिन्दगी और रोजी-रोटी को सुरक्षित रखने के प्रति या किसी और के प्रति...? ग्रामीणों के सवाल इतने कठिन नहीं हैं कि सत्ताधीशों के पास उनके जवाब नहीं हैं...। जवाब तो हैं। लेकिन वे जवाब प्रभावितों के हित में नहीं हैं... शायद इसलिए उनके सवालों के जवाब देने की बजाय... उन्हें सवालों सहित कुचलना ही एक मात्र उपाय समझा जा रहा है।

पूँजीवादी व्यवस्था की सत्ताएँ इंसानी जिन्दगी के साथ छल, कपट का खेल खेलने की आदि हो गयी है। फिर बात सिर्फ खेती-किसानी की हो...। इन्दिरा सागर, बरगी या भाखड़ा जैसे बड़े बान्धों के मनमाने ढँग से निर्माण की बात हो... शहरों, गाँवों के अनुचित पुनर्वास की बात हो। राज्य सत्ताओं की गिद्ध दृष्टि कई जगहों पर जमी हुई है। कहीं से खदान के लिए आदिवासियों को खदेड़ा जा रहा है... तो कहीं से जंगल के लिए... और जमीन अधिग्रहित करने के लिए। क्योंकि खदान, जंगल, जमीन और नदी सब कुछ देशी-विदेशी पूँजीपति... कम्पनियों को देना है... ताकि वे प्राकृतिक सम्पदाओं का मन माफिक दोहन कर मुनाफा कमा सकें। यह सोचने की बात है कि जब लोकतंत्र का तंत्र लोक को पूर्णतः निगलने पर अमादा हो... तब लोक क्या करे...?

ऐसे में किसी लोक कलाकार, लोक संस्कृतिकर्मी की भूमिका क्या हो...? यह ऐसा प्रश्न है... जो हर ईमानदार जनकलाकार के मन उठता है...। जो कलाकार इससे बचकर निकल जाता है। वह सुविधाभोगी हो जाता है... और वह जन कलाकार होने की बजाय... भरे पेट वालों का मनोरंजन करने

वाला मसखरा, भाँड़, चुटकलेबाज या कला कला के लिए जैसा विमर्श करने वाला बुद्धिजीवी बन जाता है, या राज्य द्वारा पोषित किसी कला अकादमी का अध्यक्ष, सचिव आदि... आदि बन जाता है।

लेकिन जो उक्त रास्ता नहीं अपनाता है... जो लोक की बात लोक संस्कृति में करता है, लोक संस्कृति और उसकी अस्मिता की रक्षा के लिए तमाम सांस्कृतिक माध्यमों के जरिए सक्रिय रहता है, वह राज्य की आँखों की किरकिरी बन जाता है। जीतन मरांडी हमारे समय के ऐसे ही लोक संस्कृतिकर्मी हैं। जिनके लोक गीत, बाँसुरी की धुन, ढोलक की थाप या नाटक का एक-एक संवाद आदिवासी संस्कृति में पगा होता है। जो आदिवासियों के मन में कॉर्पोरेटीय लूट, राजकीय दमन के खिलाफ चेतना की चिन्गारी पैदा करता है। जीतन मरांडी वैसा ही काम कर रहे थे जैसा आंध्र प्रदेश में गद्दर और वरवर राव की जोड़ी करती रही है। जैसा प्रेमचन्द, नागार्जुन, त्रिलोचन, गोरख पान्डे, पाशा की रचनाएँ करती रही हैं। मैं समझता हूँ कि किसी भी जन कलाकार का यही कर्तव्य है। जनता के हित में सोचना, लिखना, गाना-बजाना, नाटक करना अपराध नहीं हो सकता है। जीतन मरांडी भी यही कर रहे थे और झारखण्ड में उनकी यही एक लोकव्यापी पहचान है।

लेकिन आज जीतन मरांडी को जनता के प्रति अपना कर्तव्य निभाने की बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही है। उन पर झूठे मुकदमें न सिर्फ लादे गये बल्कि उन्हें एक में दोषी भी ठहरा दिया और 23 जून 2011 को गिरिडीह जिले के अतिरिक्त सेशन जज ने मौत की सजा भी सुना दी, हालाँकि बाद में उच्च न्यायालय ने उन्हें रिहा भी कर दिया है।

लेकिन फिर भी मन में प्रश्न उठता ही है कि क्या सचमुच हम आजादी के 62-63 साल बाद के समय में हैं...? क्या हम ऐसे देश में हैं जहाँ पर लोकतांत्रिक व्यवस्था है...? दोस्तो... कल जो जीतन मरांडी के साथ हुआ... वह कभी भी किसी भी संस्कृतिकर्मी, मानव अधिकार कार्यकर्ता के साथ हो सकता है... जो जल, जंगल, जमीन, प्राकृतिक और सांस्कृतिक धरोहरों को बचाने की बात करेगा... लोकसंस्कृति और बहुसंख्य शोषित तबके की अस्मिता बचाने की बात करेगा...। जो किसी भी रूप में जनता के हित की बात करेगा... उसे देशद्रोही कहकर या उस पर अनेक तरह के झूठे मुकदमें लगाकर विनायक सेन, सीमा आजाद, अरुण फरेरा आदि की तरह जेल में सड़ने को डाल दिया जाता है... या फिर नक्सलवादी, माओवादी आदि... आदि की उपाधि देकर ठिकाने लगा दिया जाता है। दोस्तो... मैं कहना चाहता हूँ कि आज हमें राजकीय

आतंक का सामना सांस्कृतिक तरीके से करने के लिए एक साझा सांस्कृतिक मंच पर आने की बेहद जरूरत है, क्योंकि राज्य हमारे संवैधानिक अधिकारों की चटनी बनाकर खा रहा है। संस्कृति कर्म करने की गुंजाइश लगातार कम होती जा रही है। आज पूरा देश गणतंत्र दिवस मना रहा है... कहीं ऐसा न हो कि जल्दी ही 26 जनवरी को... हमें गणतंत्र बचाओ दिवस के रूप में मनाने की शुरुआत करनी पड़ जाये...!

क्योंकि पूँजीवाद का हित साधने वाली सत्ताएँ तो कुछ-कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ निर्मित कर रही हैं, जिनके अनेक प्रमाण हैं। नर्मदा घाटी के विस्थापित आज भी दर-दर की ठोकरें खाने को विवश है... ईरोम शर्मिला की भूख हड़ताल ग्यारह बरसों से जारी है। भोपाल में यूनियन कार्बाइड प्लान्ट के पीड़ितों को पच्चीस साल बीत जाने पर भी न्याय नहीं मिला है... और न ही इस बात का जवाब कि ऐसे भयानक प्लान्ट को शहरी आबादी के करीब स्थापित ही किस लालच में किया गया था...?

पूँजीवाद का हित साधने वाली सत्ताएँ न सिर्फ देश... और देश की जनता के प्रति अपनी जवाबदेही से पीठ फेरती हैं, बल्कि वे समझती ही नहीं कि उनकी देश... और देश की जनता, जनता की संस्कृति, भाषा, बोली, साहित्य, कला आदि के प्रति कोई जिम्मेदारी भी है। उनका हर कदम और हर निर्णय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सिर्फ और सिर्फ पूँजीवादी व्यवस्था के पक्ष में होता है। कई बार हमें यह भ्रम जरूर होता है कि हमारे बारे में भी कुछ सोचा जा रहा है। हमारे लिए भी कुछ किया जा रहा है... लेकिन जैसे ही हम उसकी तह में जाते हैं तो पाते हैं कि यह मरूस्थल में कमल के होने-सा भ्रम ही था। अगर ऐसा न होता तो... देश की 77 प्रतिशत आबादी 20 रुपये रोज पर जीने को कभी मजबूर न होती! लेकिन आज यह ऐसी सच्चाई है... जिसे चाहकर भी झूठलाया नहीं जा सकता।

दोस्तो... ऐसे कई मुद्दे और कई सवाल हैं, जिन पर लम्बे समय तक बात करते रह सकते हैं। पर कहने का मतलब यह है कि जब हम अपने जीवन में ऐसी सच्चाइयों से रू-ब-रू हैं... तो फिर हम कला के किसी भी रूप में काम करने वाले हों, हम उपन्यासकार, कहानीकार, कवि, चित्रकार या फिर फिल्मकार हैं...हम जो भी हैं, अगर हम सच्चे कलाकार हैं...तो जीवन को झकझोर देने वाली सच्चाइयों, द्वन्द्वों को नजर अंदाज करके कोई भी कलात्मक काम कैसे कर सकते हैं...? और अगर कोई कर सकने का दावा करता है... तो मुझे उसके सच्चे कलाकार होने पर शक है। मुझे विश्वास है कि वह छल करता है न सिर्फ

खुद से... बल्कि हम-आप सभी से।

दोस्तो... मेरा स्पष्ट मानना है कि अच्छा रचनाकार होने से पहले अच्छा इंसान होना बेहद जरूरी है। मैं अच्छा रचनाकार हूँ... ऐसी डींग तो नहीं हाँकूंगा। लेकिन मैं यह जरूर कहूँगा कि मैं अच्छा... और अच्छा इंसान होने की लगातार कोशिश करता हूँ। जीवन में भी और रचना में भी...। जबकि परिस्थितियाँ बहुत विपरीत है फिर भी। अभी जैसा हूँ उससे बेहतर... और बेहतर... और अकेला नहीं... पूरी दुनिया के साथ बेहतर होना चाहता। इसलिए माँजता हूँ खुद को रात-दिन... संदेह की रेत से, अनुभवों के काँकरों से... ताकि चमक सकूँ अँधेरे के खिलाफ। जम न पाये मन पर पूँजी के मैल की परत... इसलिए धोता हूँ बार-बार आत्मा में पड़ते छालों को कुनकुने पानी से। ताकि झाँक ले उसमें कोई भी... कभी भी बेखटकें।

क्योंकि मैं समझता हूँ कि जिस व्यवस्था की चक्की में मजदूर, किसान, आदिवासी और दलित पीसे जाते हैं, एक अच्छी रचना... वह चाहे जिस विधा में हो... वह बहुसंख्य शोषितों के सुख-दुख और संघर्ष में शरीक हुए बगैर लिखना कठिन है, और किसी और के लिए हो न हो... मेरे लिए तो मुमकिन ही नहीं।

मैं समझता हूँ कि प्रकृति में संघर्ष की पथरीली जमीन की छाती चीरकर प्रस्फुटित हुए पौधे पर ही... अकल्पनीय सुगन्धित और खूबसूरत फूल खिल सकते हैं, न कि किसी गमले में रोपे पौधे में। जैसे गमले में पौधे रोपे जाते हैं... वैसे इन दिनों हमारे बीच हर विधा के कलाकार भी रोपे जा रहे हैं। जैसे बाजार अनेकानेक गैरजरूरी उत्पादनों की खासियत बताता है। ताकि हम उसकी मीठी-मीठी भाषा के जाल में फँस कर... अपने खून-पसीने से कमाई रकम उस उत्पाद को खरीदने में खर्च कर दें...। हमारे बीच बाजार वैसी फिल्में, वैसा साहित्य और चित्रकला भी परोसता है... जो बाजार के हित को ठेस न पहुँचाता हो। जो भरे पेट वालों का मनोरंजन करता हो। बाजार ऐसी ही फिल्म, साहित्य और कला की व्याख्या कर, प्रचार कर पाठकों, दर्शकों का ध्यान खींचता है। उन्हें जरूरी और अद्वितीय बताता है। ताकि नया दर्शक, पाठक बाजार के इस छलावे में आकर... उस रचना से दूर रहे। जो पाठक, दर्शक को शोषितों के पक्ष में और पूँजीवाद के खिलाफ खड़ा होने की चेतना से भरती है, क्योंकि बाजार पूँजीवाद के बगैर फल-फूल नहीं सकता है...?

बाजार यथार्थपरक और जनपक्षीय साहित्य का प्रचार नहीं करता। बाजार द्वारा गढ़ा गया आलोचक भी ऐसी रचनाओं के नाम नहीं लेता। ऐसे रचनाकारों को वह कलाकार नहीं

मानता। वह प्रेम और सेक्स की विलासित और कुण्ठित मानसिकताओं से उपजी भोंडी रचनाओं के संस्करण-दर-संस्करण प्रस्तुत करता है। यही उसकी नजर में जरूरी और अद्वितीय होता है।

मैं समझता हूँ कि जिस किसी भी विधा में लिखा-रचा गया साहित्य हो... अगर वह बहुसंख्य शोषित समाज के हित के सवाल को बुलंद नहीं करता है, अगर वह संघर्ष के रास्ते पर बढ़ते शोषितों की आँखों की रोशनी नहीं बनता है, अगर वह शोषितों को सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना से दूर करता है या भटकाने का प्रयास करता है, अगर वह शोषितों के मन में अपने हक-अधिकारों को छीन लेने का विवेकशील जब्बा और जोश पैदा नहीं करता है, अगर वह अपनी भाषा, बोली और संस्कृति के सम्मान की रक्षा करने को नहीं उकसाता है, अगर वह सिर्फ और सिर्फ मनोरंजन, आनन्द और समय काटने भर की कोई कलात्मक चीज है, तो बाजार की नजर में ऐसा साहित्य चाहे जितना महान और कालजयी हो, माफ मत करना.. जो मैं कहने जा रहा हूँ उसके लिए, दे सको तो... न भुला सकने वाल दण्ड ही देना...। क्योंकि मेरी नजर में वह कलात्मक कृति नहीं, बल्कि वह कोई ऐसी चीज है... जिसका नाम लेने से भी जुबान गंदी होने का खतरा रहता है।

दोस्तो... जैसे कि एक बेहतर जिन्दगी के लिए आजादी, हवा, पानी, अन्न, शिक्षा, उपचार, संगीत, कला, भाषा, बोली, साहित्य आदि बेहद जरूरी है, वैसे ही बेहतर साहित्य के लिए भी बेहद जरूरी है कि जनसंघर्ष की कोख से जन्मे। कमजोर बाजू की ताकत बने... रास्ता खोजती आँखों की रोशनी बने। गैरबराबरी की खाई को पाटने की समझ पैदा करो। दुनिया सम्पूर्ण रूप से सुन्दर और सुखद बनाने का प्रयास करो। पूँजीवाद की कब्र खोदने वाला फावड़ा बने। ये सच है कि सिर्फ साहित्य या किसी भी तरह के कलाकर्म से क्रान्ति नहीं होती... लेकिन यह भी उतना ही सच है कि सिर्फ साहित्य या किसी भी तरह के कलाकर्म के बगैर क्रान्ति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। साहित्य और क्रान्ति का चोली-दामन का साथ होता है।

मैं आज इस मौके पर अपनी वरिष्ठ और हम उग्र पीढ़ी के साथी रचनाकारों से ऐसी राह पर चलने की अपेक्षा रखता हूँ... हालाँकि कुछ रचनाकार हैं... जिनकी रचनाओं में अपनी बोली और भाषा की खुशबू होती है। अपनी धरती का लोकगीत, लोक संगीत गूँजता है। पर फिर भी बहुत कम

हैं। इसलिए मैं विनम्र अपील करता हूँ कि वरिष्ठ और युवा पीढ़ी मिलकर मजदूर, किसान, दलित, आदिवासी और हर दबे-कुचले तबके के स्वर को बुलंद करो। हम यथार्थ से मुँह नहीं फेरें... कतरायें नहीं... बल्कि हम यथार्थ, लोक कला, लोक संस्कृति और कल्पना के मिश्रण से कुछ ऐसा रचनात्मक काम करें... जो बहुसंख्य शोषित समाज की आँखों की रोशनी बन जाये। उन्हें आत्मिक रूप से मजबूत, ईमानदार, बुद्धिमान और अपने हक-अधिकारों के लिए, मानवता की बेहतरी के लिए लड़ने-भिड़ने का हुनर सीखा जाये। मैं बेचैन हो उठता हूँ यह देखकर कि लोग असल जिन्दगी जीते नहीं हैं... जीने का सपना देखते हैं... और इस उम्मीद में कि कभी वे भी असल जिन्दगी जी सकेंगे... अभाव के दलदल में पूरी जिन्दगी काट देते हैं।

आज प्रेमचन्द, मुक्तिबोध, गोर्की, हॉवर्ड फास्ट, ब्रेख्त, लू शून, यशपाल, फैज अहमद फैज जैसे अनेक साहित्यकार बहुसंख्य समाज के जेहन में इसलिए गूँजते हैं कि उनका लिखा एक-एक शब्द शोषितों के पक्ष में खड़ा है। उन्हीं की तरह किसी भी विधा में काम करने वाले रचनाकार हों। वरवर राव, गद्दर, पाशा, गोरख पाण्डे या फिर जीतन मंराडी हों। लोग उन्हें कभी नहीं भूल पायेंगे... जो दुनिया की बेहतरी के लिए लड़ें। जिन्होंने शब्दों से तोप और तलवारों का सामना किया। मैं ऐसे संघर्षों की राह पर चलने वालों को सलाम करता हूँ। मैं उर्जस्वित होता हूँ, विभिन्न संस्कृतियों को बचाने के लिए विवेकशील संघर्ष और संघर्षशील विवेक से उपजे कला के हर रूप से..., और अपने समय में सवालियों को पत्थर की तरह उठाकर पूँजीवादी व्यवस्था के चमकते भाल की तरफ उछालता हूँ। मैं बहुसंख्य समाज के साथ ऊपर उठना चाहता हूँ, मैं अकेला तरक्की के आसमान के चोतरे पर बैठ... किसी चतुर लोमड़ी की तरह इठलाना नहीं चाहता।

इसलिए... आज जब आपके सामने हूँ तो कुछ-कुछ असमंजस में हूँ...। कुछ-कुछ घबराया हुआ भी हूँ कि कहीं यह पुरस्कार आपके या मेरे मन में ऐसी कोई गलतफहमी पैदा न कर दे कि मैं आपसे अलग हूँ, इसलिए पुरस्कृत हूँ। क्योंकि मेरी राह बेहद उबड़खाबड़ है... और ठोकरें मेरी प्रतिकक्षा में बेसब्र हैं। हमारी राहें चाहे जुदा हो... पर मंजिल एक हो।

लेखक होने का मतलब

-एदुआर्दो गालेआनो

(उरुग्वे में 1940 में जन्में एदुआर्दो गालेआनो ने लेखन की शुरुआत प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं में लिखने से की और इसी वजह से सैन्य तानाशाही के दमन का शिकार बनकर देश छोड़ने को मजबूर होना पड़ा। लेखन और सक्रिय भागीदारी से उन्होंने सामाजिक बदलाव के संघर्षों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई और वे महत्त्वपूर्ण समकालीन लातिन अमरीकी लेखकों में शुमार किये जाते हैं। विश्व विख्यात पुस्तक 'ओपेन वेन्स ऑफ लातिन अमरीका' के लेखक गालेआनो ने यहाँ लेखन और साहित्य से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण बिंदुओं को लातिन अमरीकी संदर्भों में उठाया है, जो अपने कलेवर में सार्विक रूप ग्रहण कर लेते हैं। यहाँ उस आलेख के कुछ ऐसे ही सार्विक अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं।)

“जब भी कोई लिखता है तो वह औरों के साथ कुछ बाँटने की जरूरत ही पूरी कर रहा होता है। यह लिखना अत्याचार के खिलाफ और अन्याय पर जीत के सुखद अहसास को साझा करने के लिए होता है। यह अपने और दूसरों के अकेले पड़ जाने के अहसास को खत्म करने के लिए होता है। यह माना जाता है कि साहित्य ज्ञान और समझ को फैलाने का जरिया है और यह पढ़ने वालों की भाषा और आचरण पर असर डालता है। लेकिन 'बाकी लोगों' और 'दूसरों' जैसे शब्द बड़े ही भ्रामक हैं, खासकर संकट के समय जब सही और गलत की पहचान जरूरी हो जाती है तब तो ऐसे भ्रामक शब्द झूठे भी हो सकते हैं। दरअसल, लिखा उन्हीं के लिए जाता है जिनके नसीब या बदनसीबी के साथ जुड़ाव महसूस किया जाता है। ये वो लोग हैं जो न ढंग का खा सकते हैं न सो सकते हैं, वे इस दुनिया के सबसे दबे-कुचले, अपमानित और इसलिए सबसे भयंकर विद्रोही लोग हैं।

इनमें से ज्यादातर पढ़ना नहीं जानते हैं। थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों में से कितनों के पास इतना पैसा है कि वे कितना खरीद सकें? तब कोई भी क्या सिर्फ यह कहकर कि वह “आम लोगों” के लिए “जो अभी के दौर में एक भ्रामक लेकिन बहुत प्रचलित रहने वाला शब्द है”, लिख रहा है, इस भयंकर सच्चाई से मुँह मोड़ सकता है?”

“सवाल यह है कि हम जैसे लोग जो बेआवाज लोगों की आवाज बनना चाहते हैं वे इस भयानक माहौल में कैसे काम करें? जब डण्डे और बाजार के जोर से सबको गूंगा-बहरा बनाया जा रहा है तब क्या हम अपनी बात सुना सकते हैं? आज के हमारे लोकतंत्र दरअसल चुप्पी और डर पैदा करने

वाले लोकतंत्र हैं। ऐसे में लेखकों के लिए जो भी थोड़ी सी जगह बची है क्या वह व्यवस्था के आगे समर्पण और इसलिए इनकी हार का सबूत नहीं है? हमारी लेखकीय आजादी की सीमा क्या है और हम इससे किन लोगों को फायदा पहुँचा रहे हैं? न्याय और आजादी के लिए भूख तथा खुले प्रत्यक्ष-परोक्ष दमन करने वाली व्यवस्था के खिलाफ बात करना और लिखना है तो बहुत अच्छा, लेकिन सत्ता हमें यह छूट किस हद तक और कब तक देती है? ऐसे और भी कई सवाल हैं।”

“...लेखक एक संस्कृति उद्योग के दिहाड़ी मजदूर हैं जो भद्र अभिजात वर्ग की उपभोक्तावादी जरूरतों को पूरा करते हैं, वे खुद भी इसी तबके से आते हैं और इसी के लिए लिखते हैं। यही लेखकों की नियति है कि उनका लिखना ले-देकर सामाजिक गैरबराबरी कायम रखने वाली विचारधारा द्वारा तय सीमा के भीतर ही होता है। साथ ही, हम जैसे लेखक जो इन हदों को तोड़ना चाहते हैं उनका भी यही हाल है।

हम जिस समाज में रहते हैं वहाँ आबादी के बड़े हिस्से की रचनात्मक क्षमताओं और संभावनाओं को लगातार खत्म किया जा रहा है। कुछ नया रचने-गढ़ने का काम जो जीने के दर्द को साझा करने और मौत से लड़ने के लिए जरूरी है, अब चंद पेशेवर 'विशेषज्ञों' या 'बुद्धिजीवियों' के भरोसे छोड़ दिया गया है। हम जैसे कितने ऐसे 'बुद्धिजीवी' लातिन अमरीका में हैं? हम लिखते किनके लिए हैं और किनकी बात करते हैं? हमारा लिखा किन लोगों की आवाज बनना चाहिए? तालियों की गड़गड़ाहट और पुरस्कारों के सपने से आगे बढ़कर हमें ये सवाल खुद से पूछने होंगे। क्योंकि

कभी-कभी हमारी तारीफ सबसे ज्यादा वही करते हैं जिन्हें हमारे लिखने से कोई खतरा नहीं महसूस होता।

दरअसल, लिखना कुछ-कुछ मौत से लड़ने जैसा है। यह लड़ाई है हमारे अन्दर और बाहर फैली मुर्दा उदासी और बेरुखी के खिलाफ। लेकिन यह आने वाली पीढ़ियों के काम तभी आ सकता है जब यह अपनी पहचान के लिए संघर्षरत समुदाय की जरूरतों से खुद को जोड़ लेता है। मेरी समझ में एक लेखक का मौत की तरह तारी होती उदासी से खुद को बचाना और अपने लिखे की ताकत पहचानना ही बाकियों को उनकी पहचान देता है। इस तरह, इंसानियत की इस लड़ाई में कला और साहित्य हथियार लेकर चलने वाले अगुआ पंक्ति के सिपाही की तरह हैं, किसी राजा के आरामगाह की चीज नहीं।”

“थोपी गयी बाहरी संस्कृति के हाथों अपनी पहचान हारने और अपने पसीने, खून और सपने की कीमत पर पूँजी और मुनाफा बनाती-बांटती व्यवस्था को जिंदा रखने वाले ऐसे ही लोगों के लिए ‘मास कल्चर’ का झुनझुना तैयार किया गया है। यह और कुछ नहीं बल्कि ‘मास’ के लिए ‘कल्चर’ के नाम पर लोगों के बोलने, विचारने, कुछ कहने और करने की भावनाओं को नियंत्रित करना ही है। जनता के लिए पेशा यह ‘मास कल्चर’ सच देख सकने की हमारी क्षमता को ही कुंद करता है और बदले में हमें कुछ करने, बनाने और नया रचने के झूठे अहसास से भर देता है।

यह जाहिर है कि यह लुभावना मास कल्चर हमें अपनी अस्मिता को पाने की दिशा में आगे नहीं बढ़ाता, उल्टे अलग-अलग तरीके से हमें एक खास ढंग से जीने को बाध्य करता और खरीददार बनाता यह मास कल्चर हमें इस लड़ाई से ही अनजान और उदासीन बना देता है। शासक वर्ग द्वारा विकसित देशों से सीधे-सीधे आयातित और ‘वैश्वीकरण’ और ‘विश्व-सभ्यता’ करार दिये गये बेचने-खरीदने और मुनाफा कमाने की संस्कृति को ‘राष्ट्रीय संस्कृति’ का नाम दे दिया गया है। हमारे दौर की यह तथाकथित ‘विश्व सभ्यता’ बाजार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की खुली छूट और टीवी तथा अन्य संचार माध्यमों के फैलते जाल से चुनिंदा विकसित देशों के हित साधने वाली वैश्विक अर्थव्यवस्था के शिकंजे का पूरी दुनिया पर कसते जाने का ही दूसरा नाम है। यही चुनिंदा और दुनिया के मालिक बने बैठे देश पूरी दुनिया को

मशीनें, पेटेंट और साथ ही इस पूरी व्यवस्था को चलाने के लिए कुछ मंत्र भी बेचते हैं जिसे वह ‘विचारधारा’ का नाम देते हैं।”

“हालात यह है कि सिर्फ कुछ ही लोग सुख-सुविधाओं के पहाड़ पर बैठे हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बाकी सारे लोग नीचे रहकर उन्हें देखें और किसी दिन ऊपर पहुँच जाने का सपना देखते रहें। यहाँ गरीबों को अमीरी, गुलामों को आजादी, हारे हुएों को जीतने और जिनकी हड्डियाँ तक चूस ली गयी हैं, उन्हें दुनिया पर राज करने के सपने बेचे जाते हैं। गैरबराबरी पैदा करने वाली व्यवस्था को बनाए रखने की जरूरत का अहसास टीवी, रेडियो और फिल्मों कराती हैं जो दिन-रात सबकी समझ में आ सकने वाले अंदाज में व्यवस्था का संदेश फैलाती रहती हैं। हर एक मिनट में बीमारी और भूख से एक बच्चे की हत्या करने वाली यह व्यवस्था हमें अपने हिसाब से ढाल लेने और इस अन्याय का हिस्सा बनाने के सभी उपाय करती है। हमें यह सिखाया जाता है कि दुनिया हमेशा से ऐसी ही रही है और सबकुछ ठीक चल रहा है। शासन करने वाला दल ही देश हो जाता है और विरोध की आवाज उठाने वालों को बड़ी ही आसानी से गद्दार या विदेशी जासूस करार दिया जाता है। ‘जंगल के कानून’ को ‘कानून का राज’ घोषित कर दिया जाता है ताकि लोग सबकुछ किस्मत का खेल मानकर चुपचाप बैठे और सहते रहें।”

“रोज जब टीवी और सिनेमा के पर्दे पर हारने वाले को ‘कमजोर’ और हराने वाले को ‘मजबूत’ बताया जाता है तब यह इतिहास में दर्ज कुछ देशों द्वारा दूसरे देशों को खोखला कर कमजोर बना देने के अनेकों ‘बहादुर’ और ‘मजबूत’ कारनामों को जायज ठहराने के लिए ही होती है। पैसे की बर्बादी, भद्दा प्रदर्शन और अच्छे बुरे का खयाल न करते हुए सिर्फ अपना मतलब निकालना अब कोई बुरी बात नहीं बल्कि ‘कामयाब’ इंसान की पहचान मानी जाती है। यहाँ सब कुछ खरीदा, बेचा, किराये पर लिया और खाया-पचाया जा सकता है। यहाँ तक कि आत्मा भी!...टीवी और सिनेमा के पर्दे देशों की सामाजिक समस्याओं और जमीनी राजनीतिक हालात से कोसों दूर बनावटीपन और अश्लीलता की एक अलग ही दुनिया रचते हैं। परिचमी देशों से लाये गये टीवी कार्यक्रम यूरोप और अमरीका छाप लोकतंत्र का पाठ पढ़ाते हैं और वह भी बंदूक और फास्ट फूड की जय-जयकार के साथ।”

“देशों की आबादी का बड़ा हिस्सा काम की तलाश में भटक रहे नौजवानों का है जिनके गुस्से के किसी दिन फूट पड़ने का डर सरकार चला रहे लोगों की नींद उड़ाये हुए है। यहीं से इस संभावित आक्रोश को कुंद करने की सारी साजिशें शुरू हो जाती हैं। नशे की लत लगाकर युवाओं को उनके समाज से ही काट देना और कुछ कर गुजरने की इच्छा-शक्ति खत्म कर देना लगातार किये जा रहे ऐसे ही उपायों में से एक है। इसलिए बेतहाशा बढ़ रही आबादी को रोकने की बजाय, यहाँ लोगों के सोचने-समझने की क्षमता ज्यादा कारगर तरीके से नियंत्रित की जाती है।...पुरानी, बदलाव की घोर विरोधी और पुलिसिया दमन पर टिकी सरकारों वाले देशों में नयी पीढ़ी का व्यवस्था में कोई दखल ही नहीं है।”

“सत्तर के दशक में यूरोप और अमरीका की ठहरी और पुरानी पड़ चुकी व्यवस्थाओं के खिलाफ हुए युवा संघर्षों के नारे, उनके प्रतीक, उनका मिजाज और सपने अब बाजार के कब्जों में है। नया संसार उभारने वाली छवियाँ अब ‘आजादी’ के नारे के साथ बेची और खरीदी जाती है। इसी तरह, उनका संगीत, उनके पोस्टर, बाल बनाने और कपड़े पहनने का उनका खास अंदाज अब नशे की लत में सपने ढूँढने वाली पीढ़ी और ‘तीसरी दुनिया’ में ऐसे ही सामानों के फैल रहे कारोबार में काम आ रहे हैं।...उद्योगप्रधान समाज के द्वारा राजनीतिक और आर्थिक सच्चाइयों से पूरी तरह काट दिये गये तबके की दबी-छुपी बेचैनियों से जन्मी इस भ्रामक ‘प्रतिरोध की संस्कृति’ का हमारी अस्मिता और अधिकारों की लड़ाई से कोई लेना-देना नहीं है। यह तो अधिक से अधिक लोगों को कुछ कर दिखाने का भ्रम ही देती है...यह सभी सामाजिक बंधनों और जिम्मेदारियों को नकार कर हमें आस-पास की सच्चाइयों से दूर कर देती है, और होता यह है कि सब कुछ यूँ ही चलता रहता है और हम अपनी ही रची इस नकली दुनिया के खयालों में खोये रह जाते हैं जो हमें बिना लड़े और तकलीफ झेले सबकुछ पाने की खुशफहमी से बांधे रखता है।”

“तो लोगों को झकझोरकर जगा देने और उन्हें आस-पास की सच्चाई से रू-ब-रू करने का काम कैसे किया जाय? जब दुनिया इस दौर के कठिन हालात से रू-ब-रू है तो क्या साहित्य हमारे काम आ सकता है?...ऐसे समय में जब हम अपनी अलग-अलग इच्छाओं और सपनों के साथ एक-दूसरे को सिर्फ फायदे और नुकसान के नजरिये से

देख-समझ और परख पा रहे हैं तब सबको साथ लेकर चलने और दुनिया की तस्वीर बदलने का ख्वाब संजोने वाले साहित्य की क्या भूमिका हो? हमारे आस-पास के हालात इतने बिगड़ चुके हैं कि लिखना और कुछ नहीं बल्कि एक के बाद दूसरी समस्याओं की बात करना और उनसे भिड़ना हो गया है। तब हमारा लिखना किन लोगों के खिलाफ और किनके लिए हो?...हम जैसे लेखकों की किस्मत और सफर बहुत हद तक बड़े सामाजिक बदलावों की जरूरत से सीधे-सीधे जुड़ा है। लिखना इस बदलाव के लिए लड़ना ही है क्योंकि यह तो तय है कि जब तक गरीबी, अशिक्षा और टीवी तथा बाकी संचार माध्यमों के फैलते जाल पर बैठी सत्ता का राज कायम रहेगा तब तक हमारी सबसे जुड़ने और साथ लड़ने की सभी कोशिशें बेकार ही रहने वाली हैं।”

“जब किसानों-मजदूरों सहित आबादी के बड़े हिस्से की आजादी खत्म की जा रही है, तब सिर्फ लेखकों के लिए कुछ रियायतों या सुविधाओं की बात से मैं सहमत नहीं हूँ। व्यवस्था में बड़े बदलावों से ही हमारी आवाज एलीट महफिलों से निकलकर खुले और छिपे सभी प्रतिबंधों को भेद कर उस जनता तक पहुँचेगी जिसे हमारी जरूरत है और जिसकी लड़ाई का हिस्सा हमें बनना है। अभी के दौर में तो साहित्य को इस गुलाम समाज की आजादी की लड़ाई की उम्मीद ही बनना है।”

“इसी तरह, यह सोचना भी गलत होगा कि जीने के रोज के संघर्षों से जूझ रही बदहाल जनता सिर्फ साहित्य और कला के माध्यम से अपनी छिनी जा चुकी सृजन-क्षमता को दोबारा पा सकेगी। जीवन की कड़वी सच्चाइयों के मारे कितने ही प्रतिभाराली लोग कुछ करने से पहले ही समय के अंधेरे में खो जाते हैं।...कभी न पूरे होने वाले सपने के जाल में फंसी और अपने आस-पास की सच्चाइयों से अनजान जनता आखिर बदलाव लाये तो कैसे? यह उम्मीद करना तो बेमानी ही होगा कि यह जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्ष की जरूरत खुद ही समझ जाएगी। तो क्या ऐसे में लोगों को लड़ने की जरूरत का अहसास-चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष-साहित्य नहीं करा सकता? मेरी समझ से यह बहुत कुछ इस बात से भी तय होता है कि लेखक अपने लोगों की पहचान, उनके कामकाज और उनकी किस्मत को बनाने-बदलने वाले हालात के साथ कितनी गहराई से जुड़े हैं?”

“हमारी असली पहचान इतिहास से जन्मती और आकार लेती है जो पत्थर पर पड़े और सुरक्षित हो चुके पैरों के निशान की तरह समय के अलग-अलग पड़ावों से होकर गुजरे हमारे सफर का गवाह बना रहा है। लेकिन, इतिहास से यह जुड़ाव पुरानी चीजों और यादों से चिपके रहना नहीं है जो बड़ी आसानी से कट्टरता का रूप भी ले सकता है। इसी तरह, यह भी तय है कि अब तक दबी हुई पहचान कुछ खास तरह के कपड़ों, रीति-रिवाजों, और चीजों से हमारे दिखावटी मोह से भी जाहिर नहीं होती। ये सब तो विकास की दौड़ में हराये और पछाड़ दिये गये देशों के बाजारों में विदेशी पर्यटकों को लुभाने के काम ही आते हैं। हम वही हैं जो हम करते हैं, खासकर हम जो हैं उसे बदलने के लिए जो कुछ करते हैं। हमारी पहचान हमारे इन्हीं कामों और हमारे संघर्षों से बनती है। इसलिए पहचान की यह लड़ाई व्यवस्था के उन सभी रूपों से लोहा लेना है जो हमें सिर्फ एक आज्ञाकारी कामगार और खरीददार बनाती है। तब लेखक होने का मतलब इस चुनौती और प्रतिरोध की आवाज बनना ही है।”

“अपने दौर के तमाम संकटों और बदलाव की चाह को समेटे तथा सभी तरह के खतरों से भिड़ने वाला साहित्य ही नयी और बेहतर दुनिया की तस्वीर दिखा सकता है और ख्वाब देखने की हिम्मत और हुनर वाले लेखकों के जरिये वह इस दुनिया को हासिल करने का रास्ता भी दिखा सकता है। जाहिर है, ... अन्याय और उदासी के माहौल में साहित्य का अपना एक अलग महत्त्व है।”

“आबादी का बड़ा हिस्सा जब जीने के संघर्षों में लगा है, तब कुछ लेखक ‘विशिष्ट’ होने का दावा करते हुए अपने लिए सुविधाओं की माँग कर रहे हैं। कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो सरकारी दमन की स्थिति में साहित्य को ही कोसते हुए सत्ता के साथ हो लेते हैं। मैं इन दोनों ही बातों के बिल्कुल ही खिलाफ हूँ। लेखक न तो कोई भगवान होता है और न ही व्यवस्था की मर्जी का गुलाम। यह सही है कि हम आसपास की घटनाओं से प्रेरणा लेकर अपना साहित्य बुनते हैं, लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं है कि हम अपने को सिर्फ यहीं तक सीमित रखें। देखा जाये तो लिखना एक गतिविधि ही है, यह अपने आप में कोई जादुई चीज नहीं है, लेकिन जब एक लेखक हमें इस दुनिया का असली रंग देखने और बेहतर दुनिया बसाने का हौसला देने वाले लोगों और अनुभवों के

साथ ला खड़ा करता है तब उसके लिखे का असर किसी जादू से कम भी नहीं होता। साथ ही, अगर उसका लिखा लोगों को विद्रोही और सत्ता के लिए ‘अपराधी’ बनाने के साथ-साथ उनकी सोच बदलता या उसे नये आयाम देता है तब वह बदलाव की लड़ाई का हिस्सा जरूर बन सकता है। संघर्षों से ऐसे सहज रूप से जुड़े लेखक अभिमान और खुद को अच्छा साबित करते रहने की होड़ में नहीं रहते, क्योंकि वे जानते हैं कि उनका सफर औरों से अलग और ज्यादा कठिन है।”

“मेरे ख्याल से सिर्फ अपनी सोच और अंतहीन उलझनों को जाहिर करने के लिए शब्दों की बाजीगरी करने वालों को लिखना छोड़ देना चाहिए। शब्द तो अपने पूरे अर्थ के साथ अन्याय के ऊपर जिन्दगी का ज़रन मनाने वालों के लिखे में ही आकार लेते हैं। हमें पास बैठ कर बात करने वाले चाहिए, दूर बैठ कर तमाशा देखने वाले नहीं। हम बातचीत और मेलजोल बढ़ाने के लिए हैं, सिर्फ तालियाँ पाकर, बाकी सबकुछ अपनी जगह छोड़कर, खुश होने को मजबूर तमाशा दिखाने वाले नहीं। लिखना लोगों से मिलने की हमारी जरूरतें पूरी करता है, कुछ इस तरह से कि हमें पढ़ने वाले हमसे अपने जब्बात शब्दों के जरिये साझा करें, जिन्हें हम उम्मीदों और सपनों की शकल देकर उन तक पहुँचायें।”

“साहित्य अपने-आप सबकुछ ठीक कर देगा यह मानना खामख्याली ही होगी। लेकिन बदलाव की लड़ाई में साहित्य की भागीदारी को सिरे से खारिज करना भी सरासर बेवकूफी होगी। लिखते समय हम इस व्यवस्था से तय होती हमारी सीमाओं से अच्छी तरह वाकिफ होते हैं। सच कहें तो यही सीमाएँ समाज की सच्चाइयों को हमारे सामने खोलती भी हैं। हम अपनी इन्हीं सीमाओं के साथ हताशा और निराशा से भरे इस दौर में व्यवस्था से भिड़ते हुए अंततः इन सीमाओं को भी ध्वस्त कर सकते हैं।...हमारे लिखने की सार्थकता तभी है जब हम अपनी बात बिना डरे, पक्के इरादे के साथ और बेबाकी से रख पायें और एक बेहतर दुनिया का सपना देकर लोगों को लड़ने का हौसला दे पायें। हमारी ख्वाहिश ऐसी भाषा गढ़ने की है जो जनसंघर्षों से डरी और पराजित हो रही व्यवस्था की चाकरी करने वाले लेखकों की वाह-वाह और जय-जयकार के उलट कहीं ज्यादा बेखौफ और खूबसूरत हो।”

“लेकिन सवाल सिर्फ भाषा का ही नहीं है। सवाल यह भी है कि हम अपनी बात रखते कैसे हैं। प्रतिरोध की

संस्कृति को अपनी बात रखने के लिए सभी मौजूद तरीके काम में लाने होंगे और संवाद के किसी भी माध्यम या अवसर को छोटा समझने की 'एलीट' सोच से बचना होगा। हमारे पास समय कम है, लड़ाई मुश्किल और करने को बहुत कुछ है। सामाजिक बदलाव के लिए लड़ रहे लोगों के लिए लिखना इस लड़ाई के बहुत से मोर्चों में से एक है। हम यह नहीं मानते कि साहित्य सिर्फ बुर्जुआ वर्ग के घरों की शोल्फों में सजाकर रखी जाने वाली कोई चीज भर है।...लोगों को सुपर मार्केट और हवाई जिन्दगी की मदहोशी देकर सच से बेखबर बना देने वाले संचार माध्यमों के फैलते-कसते जाल से लड़ती-भिड़ती अपनी आवाज बुलंद करती जनवादी पत्रकारिता एक बेहतर दुनिया का सपना देने वाली कितनी ही आवाजों के बलिदान की गवाह बनी है। अपनी रचनात्मकता और प्रभाव में यह किसी भी 'महान' और 'बेस्टसेलर' करार दिये गये उपन्यासों या कहानियों से कम नहीं है।"

"मुझे विश्वास है अपने काम पर और शब्द के अपने हथियार पर। मैं यह कभी नहीं समझ पाया कि भुखमरी और बेकारी के इस दौर में साहित्य की सीमाओं की दुहाई देने वाले लोग फिर लिखते ही क्यों हैं? या फिर यह भी कि क्यों लोग शब्दों का इस्तेमाल सिर्फ अपनी भड़ास निकालने या चंद नारों या पार्टी दस्तावेजों के लिए अपनी भक्ति दिखाने के लिए करते हैं? शब्द तो एक हथियार की तरह हैं, यह हम पर निर्भर करता है कि हम चाहें तो इससे व्यवस्था को उलट देने का हौसला दे दें या 'सबकुछ अच्छा चल रहा है' मानकर प्रकृति और ईश्वर का गुणगान करते रहें।"

"सच कहूँ तो अभी के...साहित्य के लिए सबसे बड़ा काम बेहतर दुनिया की हमारी साझी समझ के खिलाफ बेधड़क और खुलेआम चल रहे सरकारीकरण और बाजारीकरण से शब्दों को बचाना है। क्योंकि आजकल 'आजादी' मेरे देश की एक जेल का नाम है और तानाशाह सरकारों ने खुद को 'लोकतंत्र' घोषित कर रखा है। अब 'प्यार' इंसान का अपनी गाड़ी से लगाव और 'क्रांति' बाजार में आये किसी नये ब्रांड के धमाकेदार प्रचार के काम आ रहे हैं। अब हमें खास और महँगे ब्रांड का साबुन रगड़ने पर 'गर्व' और फास्ट-फूड खाने पर 'खुशी' का अहसास होता है। 'शांत देश' दरअसल बेनाम कब्रों की लगातार बढ़ते जाने वाली कतार है और 'स्वस्थ' इंसान वह है जो सबकुछ देखता है और चुप रहता है।"

"धीरे-धीरे...एक नये तरह का साहित्य आकार ले रहा है। ऐसा साहित्य जो लोगों को सबकुछ खत्म हो चुकने की उदासी नहीं बल्कि कुछ नया करने की ताकत दे रहा है। यह मार दिये गये हमारे लोगों को इतिहास में दफन नहीं करता, बल्कि उन्हें हमारे सामने ला खड़ा करता है, यह सबकुछ भूल जाना नहीं, बल्कि इतिहास के पन्नों से बदलाव की हमारी साझा लड़ाई की वजहें और जरूरतें ढूँढना सिखाता है। यही साहित्य लड़ने की हमारी परम्परा और उसके गवाह रहे अनगिनत लोकगीतों और कहानियों में गूँज रहे शब्दों का सच्चा साथी और पहरुआ है। अगर हम यह मानते हैं कि इतिहास सिर्फ यादें खरोचने से कहीं ज्यादा उम्मीद जगाने की कोई चीज है तो यह उभरता हुआ साहित्य उन तमाम सारे लोगों को हाथ दे सकेगा जो आज नहीं तो कल किसी भी तरह से उलटबाँसियों से भरे हमारे इतिहास को बदल देने वाले हैं।"

(स्पेनिश से अनुवाद- पी. कुमार मंगलम। समयांतर के अक्टूबर 2011 अंक से साभार)

उठो

बुरी बात है

चुप मसान में बैठे-बैठे

दुःख सोचना, दर्द सोचना !

दृष्टिहीन कमजोर तुच्छ को

हाजिर नाजिर रखकर

सपने बुरे देखना!

टूटी हुई बीन को लिपटाकर छाती से

राग उदासी के अलापना !

बुरी बात है!

उठो, पाँव रक्खो रक्काब पर

जंगल-जंगल नद्दी-नाले कूद-फांद कर

धरती रौंदो!

जैसे भादों की रातों में बिजली कौंधे ,

ऐसे कौंधो ।

-भवानी प्रसाद मिश्र

कविता

चंकी पांडे मुकर गया है

-उदय प्रकाश

लोकप्रिय टी-सीरीज कम्पनी का मालिक गुलशन कुमार
हत्या के वर्षों बाद भी अभी तक गाता है
माता के जागरण के भजन, और दिखता है
वैष्णो देवी की चढ़ाई चढ़ता हुआ,
माथे पर बांधे हुए केसरिया स्कार्फ
गोल मटोल चेहरा, काले घुंघराले बाल,
चमकदार हंसती सी छोटी-छोटी रोमानी आँखें
हर कोई जानता है कि वह पहले दरियागंज में चलाता था फ्रूट-जूस
की दुकान
इसके बाद उसने व्यापार किया संगीत का
जिसकी कम्पनी के कैसेट के लिए गाती है अनुराधा पौडवाल
जिसके पति अरुण को अब सब भूल चुके हैं
जो पहाड़ से प्रतिभा और संगीत लेकर गया था
अपनी सुंदर पत्नी के साथ मुंबई अपनी किस्मत आजमाने
उसके नाम का आधा हिस्सा अभी भी जुड़ा है
अनुराधा के साथ

कहते हैं अरुण पौडवाल की आत्मा
म्यूजिक स्टूडियो में अभी भी आधी रात घूमती है
वह साउंड मिक्सिंग करती है
रात में गलत सुरों को सुधारती हुई

गुलशन कुमार की आकांक्षा थी अनुराधा को लता मंगेशकर और
अपने भाई किशन कुमार को
ट्रेजेडी किंग दिलीप कुमार बनाने की
वही किशन कुमार, जो मैच फिक्सिंग के मामले में
गिरफ्तार हुआ था और जेल में बीमार पड़ा था
फिर जमानत पर छूट गया था, जैसे सभी इज्जतदार
और सम्मानित लोग छूट जाया करते हैं इस देश में
यह वही मैच फिक्सिंग काण्ड था,
जिसमें अजहरुद्दीन का क्रिकेट कैरियर बरबाद हुआ था
जिसमें दक्षिण अफ्रीका की क्रिकेट टीम का कप्तान
हैंसी क्रोनिए भी फँस गया था

और विमान दुर्घटना में मरने के पहले तक नहीं हो सका था अपने
देश की टीम में बहाल
हालाँकि भारतीय अदालत ने
अजय जडेजा को बेदाग बरी कर दिया था और
वह बल्ला लेकर फिर पहुँच गया था राष्ट्रीय टीम में खेलने
अजय जडेजा की शादी हुई थी
जया जेटली की बेटी के साथ
जया जेटली के पति ने बढी उमर में तलाक देकर
दूसरी औरत के साथ घर बसा लिया था
आश्चर्य था कि दिल्ली के महिला संगठनों ने
इस पर चुप्पी साधे रखी थी
क्योंकि जया जेटली उसके पहले तहलका काण्ड में
मराहूर हुई थीं,
जिसके कारण रक्षामंत्री को इस्तीफा देना पड़ा था
और बहुत प्रयत्नों के बावजूद मुरिकल था एक उत्पीड़ित भारतीय
पत्नी का मेकअप कर पाना

रही बात तहलका डॉट-कॉम के तरुण तेजपाल
और उनके साथियों की तो
वे पोटा से बचते छिपते इस लोकतंत्र के बनैले यथार्थ में हमारी
तरह ही कहीं घायल पड़े होंगे

अब क्या क्या कहा क्या लिखा जाय
हर किसी की स्मृति में ये सारी बातें हैं
हालाँकि विस्मृति के जो नये उपकरण खोजे गये हैं
उनमें बहुत ताकत है
और जो शुद्ध साहित्य है
वह विस्मरण का ही एक शांतिर औजार है
लेकिन जो (विचारधाराओं) वाला साहित्य है
वह भी सरकारी फंडखोरी और
संस्थाओं की सेंधमारी की ही एक बीसवीं सदी वाली
पुरानी इंडो-रूसी तकनीक है
न किसी पत्रिका न किसी अखबार में इतनी नैतिकता है

न साहस कि वे किसी एक घटना का
पिछले पाँच साल का ही ब्यौरा ज्यों का त्यों छाप दें पचास-पचपन
साल की तो छोड़िए
किसी तथाकथित कहानीकार को भी क्या पड़ी है कि वह
यथार्थवाद के नाम से प्रचलित कथा में
ऐसा यथार्थ लिखे कि पुरस्कार आदि तो दूर
हिन्दी समाज में जीना ही मुहाल हो

तो बात आगे बढ़ाएँ..

एक ऐसी वीडियो रिकार्डिंग थी दुबई की
जिसमें अबू सलेम की पार्टी में शामिल थे
बड़े-बड़े आला कलाकार और साख रसूख वाली हस्तियाँ
इसी टेप से सुराग मिलता था गुलशन कुमार की हत्या का लेकिन
अदालत में चंकी पांडे ने कहा कि
वह तो अबु सलेम को पहचानता ही नहीं
और टेप में तो वह यों ही
उसके गले से लिपटा हुआ दिखाई देता है
ऐसा ही बाकी हस्तियों ने कहा
हिन्दुस्तान की अदालत ने भी माना कि दरअसल उस टेप में
दिख रहा कोई भी आला हाकिम हुक्काम,
अभिनेत्रियाँ या
अभिनेता अबु सलेम को नहीं पहचानता..
और जो वह एक्ट्रेस उसकी गोद में बैठी चूमा-चाटी कर रही थी
उसका बयान भी अदालत ने माना कि कोई जरूरी नहीं कि
कोई औरत अगर किसी को चूमे
तो वह उसे पहचानती भी हो

तो लुब्बोलुआब यह कि अबु सलेम को पहचानने के मामले में
सारे गवाह मुकर गये
उसी तरह जैसे बीएमडब्ल्यू काण्ड में कार से कूचले गये पाँच
लोगों के चरमदीद गवाह संजीव नंदा और उसकी हत्यारी
कार को पहचानने से मुकर गये
जैसे जेसिका लाल हत्याकांड के सारे प्रत्यक्षदर्शी मनु शर्मा को
पहचानने से मुकर गये

हर कोई मुकर रहा है इस मुल्क में किसी भी सुनवाई,
गवाही या निर्णय के वक्त
कोई नहीं कहता कि वह समाज या

संस्कृति के किसी भी भूगोल के किसी भी हत्यारे
को पहचानता है

यह एक लुटेरा समय है
नयी अर्थव्यवस्था की यह नयी सामाजिक संरचना है
आवारा हिंसक पूँजी की यह एक बिल्कुल नयी ताकत है और
इसमें जो कुछ भी कहीं लोकप्रिय है
वह कोई न कोई अमरीकी ब्रांड है
गुलाम होने और गुलाम बनाने के सारे खेलों में अब बहुत बड़ा
पूँजी निवेश है

और जो आजकल का साहित्य है, जिसमें लोलुप बूढ़ों और उनके
वफादार चेलों की सांस्थानिक चहल-पहल है
वह भी अन्यायी सत्ता और अनैतिक पूँजी का देशी भाषा में किया
गया एक उबाऊ करतब है
यह भ्रष्ट राजनीति का ही परम भ्रष्ट सांस्कृतिक विस्तार है एक
उत्सव... एक समारोह...
एक राजनेता और आलोचक, कवि और दलाल,
संगठन और गिरोह में
फर्क बहुत मुश्किल है

अनेकों हैं बुरा
अनेकों हैं ब्लेयर

साथियो, यह एक लुटेरा अपराधी समय है
जो जितना लुटेरा है, वह उतना ही चमक रहा है
और गूँज रहा है
हमारे पास सिर्फ अपनी आत्मा की आँच है
और थोड़ा-सा नागरिक अंधकार
कुछ शब्द हैं जो अभी तक जीवन का विश्वास दिलाते हैं..

हम इन्हीं शब्दों से फिर शुरू करेंगे अपनी नयी यात्रा...

(रचनाकाल: जून 2003)

नाभिकीय ऊर्जा विकास नहीं विनाश को न्यौता

-सुशील यादव

जो लोग दावा करते हैं कि “नाभिकीय ऊर्जा सुरक्षित है” उन्हें नाभिकीय कचरे से नहलाना चाहिए।

जो लोग दावा करते हैं कि “नाभिकीय ऊर्जा निरापद है” उनके मुँह में हर रोज एक चम्मच नाभिकीय पदार्थ टूँसना चाहिए।

यह दावा करना कि नाभिकीय संयंत्र हानिकारक नहीं, यह दावा करने के समान है कि सूरज गर्म नहीं।

पागलपन का चरम... अनन्त, असीम पागलपन।

नाभिकीय उद्योग और तकनीक को बढ़ावा देने वाले इस धरती के सबसे बड़े अपराधी हैं... सबसे बड़े हत्यारे, खूनी और आतंकी।

भारत में कुडानकुलम/जैतापुर नाभिकीय संयंत्र बन्द करो... इस दुनिया में हर जगह नाभिकीय संयंत्र बन्द करो।

“ऊर्जा की माँग बढ़ रही है... इसलिए हमें और अधिक बिजली घर चाहिए... और अधिक नाभिकीय संयंत्र।”

किसने यह नियम बनाया... किस बेवकूफ ने बनाया यह नियम????

ऊर्जा की बढ़ती खपत ने समूचे पर्यावरण को तहस-नहस कर डाला।

ऊर्जा के बेहिसाब इस्तेमाल ने समूचे पर्यावरण को तहस-नहस कर डाला।

ऊर्जा की बढ़ती माँग कम से कम करना लाजिमी है... उसकी पूर्ति करना नहीं।

हमारी धरती सरल जीवनशैली के लायक ऊर्जा मुहैया कर सकती है... उपभोक्तावादी जीवनशैली के लिए नहीं।

हमारी धरती सरल जीवनशैली के लायक संसाधन मुहैया कर सकती है... उपभोक्तावादी जीवनशैली के लिए नहीं।

हमारी धरती भोजन, कपड़ा और मकान के लिए ऊर्जा और संसाधन मुहैया कर सकती है... हजारों की तादाद में उपभोक्ता वस्तुओं और अय्यासियों के लिए नहीं।

विकास विनाश है... विकास विनाश है।

“विकास दर”-“अर्थतंत्र दर”-“सकल घरेलू उत्पाद”

ये सब “पर्यावरण विनाश” के आँकड़े हैं।

ये सब “प्रकृति के प्रति अपराध” के आँकड़े हैं।

ये सब “पर्यावरण की तबाही” के आँकड़े हैं।

ये सब “पागलपन, असमान्यता और अपराधिता” के आँकड़े हैं।

विकास दर, अर्थतंत्र दर और सकल घरेलू उत्पाद को बढ़ावा देने वाले इस धरती के सबसे बड़े हत्यारे, खूनी और आतंकी हैं।

नाभिकीय पदार्थ जहाँ भी हों, हानिकारक हैं... नाभिकीय खदान, नाभिकीय संयंत्र... नाभिकीय पोत... नाभिकीय जहाज... नाभिकीय उपग्रह... नाभिकीय हथियार... उनका अस्तित्व मात्र ही हानिकारक है।

नाभिकीय विकिरण का असर पीढ़ी दर पीढ़ी मौत.. कैसर... बहुअंग नाश... जैविक विकृति... शारीरिक विद्रूपता... मानसिक असमान्यता की ओर धकेलता है।

औद्योगिक समाज का सफेद झूठ फैलाना जारी है... कि एक और चेर्नोबिल, एक और फुकुशिमा दुर्घटना नहीं होगी, कि एक और खाड़ी तेल आपदा, एक और भोपाल गैस त्रासदी नहीं होगी।

सफेद झूठ, सफेद झूठ...

जब तक उद्योग हैं, औद्योगिक दुर्घटनाएँ होती रहेंगी। वे और विकराल और विकट होती जायेंगी।

जितना बड़ा उद्योग, उतनी बड़ी दुर्घटना।

नाभिकीय पदार्थ इस धरती पर सबसे खतरनाक, सबसे जहरीली और सबसे जोखिम भरी चीज है।

यह धरती के बहुत नीचे दफन था।

आदमी इसे सतह पर लाया, हजारों टन ऐसा बेहद जहरीला पदार्थ तैयार करने के लिए इसका शोधन किया जो हजारों सालों तक विकिरण फैलाता रहेगा- और दुनिया भर में इसका इस्तेमाल कर रहा है।

एक बार तैयार होते ही नाभिकीय पदार्थ मनुष्यों, जानवरों, पौधों, हवा, पानी और मिट्टी को हजारों साल तक जहरीला बनाता रहता है।

नाभिकीय पदार्थ ने इस समूचे ग्रह को जहरीला/प्रदूषित कर दिया है।

धरती पर 500 नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र, सैकड़ों नाभिकीय हथियार बनाने वाले उद्योग स्थल, हजारों नाभिकीय शोध केन्द्र, सैकड़ों नाभिकीय ऊर्जा वाले जहाज और पोत, सैकड़ों नाभिकीय ऊर्जा युक्त उपग्रह हैं।

जमीन, पानी, हवा... समूचा ग्रह जहरीला बना दिया गया।

नाभिकीय पदार्थ सबसे खतरनाक पदार्थ है इसे तो तैयार भी नहीं करना चाहिए... इसे तो अस्तित्व में नहीं लाना चाहिए।

हर व्यक्ति को हवाई जहाज दुर्घटनाओं का, मोटर कार दुर्घटनाओं और रेल दुर्घटनाओं का पता चल जाता है... क्योंकि उन्हें आँखों से देखा जा सकता है।

नाभिकीय दुर्घटना इनसे अलग होती है... लोगों को केवल उन्हीं नाभिकीय दुर्घटनाओं का पता चलता है जो भारी विस्फोट के साथ होती है। लोगों को गुप-चुप तरीके से नाभिकीय/विकिरण रिसाव के बारे में पता नहीं चलता क्योंकि वे दिखाई नहीं देते और केवल उन्हीं लोगों को जानकारी हो सकती है जिनके पास विकिरण जाँचने वाला उपकरण हो। इन रिसावों की खबर मीडिया में भी नहीं आती क्योंकि नाभिकीय उपक्रम को चलाने वाले, खुद इसकी जानकारी नहीं देने वाले- वे अपने ही अपराधों की खबर भला क्यों देंगे? नाभिकीय रिसाव से जुड़ी हजारों दुर्घटनाएँ हर रोज हो रही हैं लेकिन उनकी कोई खबर नहीं आती। दुनिया भर में हर रोज हजारों स्थानों पर मिट्टी, पानी और हवा नाभिकीय विकिरण से प्रदूषित हो रहा है।

एक बार तैयार होते ही नाभिकीय पदार्थ इन्सानों, जानवरों, पौधों, हवा, पानी और मिट्टी को हजारों साल तक जहरीला बनाते रहते हैं।

जो लोग नाभिकीय पदार्थ के उत्पादन का धंधा करते हैं जो लोग दुनिया भर में इसकी दुलाई का कारोबार करते हैं- जो लोग ऊर्जा संयंत्रों और औद्योगिक गतिविधियों में इसके इस्तेमाल को प्रोत्साहित करते हैं। वे सबसे बड़े अपराधी हैं- सबसे बड़े खूनी, हत्यारे और आतंकी है इस धरती के।

सरकार आरोप लगाती है कि कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र विरोधी आन्दोलन में एनजीओ विदेशी कोष का इस्तेमाल कर रही है

-इसका क्या मतलब है? क्या मतलब है इसका?

क्या खुद सरकार प्रगति, वृद्धि और विकास के नाम पर पर्यावरण का विनाश करने के लिए विदेशी पूँजी का इस्तेमाल नहीं कर रही है?

कुडानकुलम/जैतापुर नाभिकीय संयंत्र बन्द करो।

भले आदमी

भले आदमी

रुक रहने का पल

अभी नहीं आया

बीज जिस फल के लिए

तूने बोया था वह फल

अभी नहीं आया तेरे वृक्ष में

टूटती हुई साँस की डोर को

अभी जितना लम्बा खींच सके

खींच

सींच चुका है तू

वृक्ष को अपने पसीने से

अब अपने खून से सींच!

-भवानी प्रसाद मिश्र

सेना में भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़

सेना में भ्रष्टाचार कोई अचम्भे की बात नहीं। अचरज की बात यह है कि इस बार सेनाध्यक्ष वी के सिंह ने खुद ही भ्रष्टाचार के मामले को उजागर किया है। उन्होंने एक पूर्व सैनिक अधिकारी द्वारा रिश्वत देने की पेशकश किये जाने का खुलासा किया है। साथ ही प्रधान मंत्री को सम्बोधित उनके गोपनीय पत्र के लीक होने से पता चला है कि रक्षा मंत्रालय द्वारा खरीदे गये 7,000 टेट्रा ट्रकों की गुणवत्ता खराब थी। चिट्ठी लीक होने को लेकर सरकार, विपक्ष और सेना के बीच जमकर आरोप-प्रत्यारोप हुआ। भ्रष्टाचार के दोषियों का पता लगाने और उन्हें सजा दिलाने के बजाय पक्ष-विपक्ष के नेता इस मामले के लीक होने को लेकर परेशान हैं। मकसद साफ है-सेना में भ्रष्टाचार जारी रहे, लेकिन वह जनता के सामने न आ पाये। गोपनीयता के नाम पर अधिकांश सैन्य घोटालों पर पर्दा पड़ा रहता है और किसी-किसी मामले में ही ऐसा हो पाता है कि पाप का घड़ा भरकर छलकने लगे। लेकिन दोषियों को सजा मिलना असम्भव ही होता है।

भ्रष्टाचार के जो मामले काफी चर्चित रहे हैं उनमें राजीव गाँधी के शासनकाल से जुड़ा बोफोर्स तोप सौदा सबसे कुख्यात है। बोफोर्स घोटाले से शुरू हुआ, भ्रष्टाचार और घोटालों का यह सिलसिला रुकने का नाम नहीं ले रहा है। 1999 में कारगिल युद्ध के दौरान घटिया स्तर के ताबूत खरीदना भी काफी चर्चित हुआ था। इस सौदे में देश को अमरीकी कम्पनी से लगभग 95 करोड़ का घाटा हुआ और इसके छींटे तत्कालीन रक्षामंत्री जॉर्ज फर्नांडीस के ऊपर भी पड़े थे। 2008 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग में सुकना सैनिक अड्डे के पास गैरकानूनी तरीके से भूमि हासिल करने के लिए तीन सैन्य अधिकारियों को दोषी ठहराया गया। इनके अलावा पिछले 10 सालों में राशन घोटाला, दूध स्पलाई घोटाला, सैन्य बलों के कैन्टीन में धाँधली और बुलेटप्रूफ जैकेट टेन्डर घोटाला भी काफी चर्चित रहे। सेना के कई अधिकारी सेवानिवृत्त होने के बाद

प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से हथियारों के सौदागर या एजेंट का काम करते हैं। चारा घोटाला और आदर्श सोसाइटी घोटाला इन घोटालों के आगे कुछ भी नहीं। सरकार द्वारा रक्षा बजट में बेतहाशा बढ़ोत्तरी और साजो समान की भारी मात्रा में खरीद इसका अक्षय स्रोत है। गोपनीयता के नाम पर रक्षा मंत्रालय और सेना के पूरे ढाँचे पर रहस्यमय पर्दा पड़ा रहता है। घोटालों के लिए यह स्थिति बेहद अनुकूल है क्योंकि इसके खिलाफ बोलना या गोपनीयता को भंग करना, देशद्रोह माना जाता है। इसने पूरी सैन्य व्यवस्था को सड़ान्ध में धकेल दिया है।

इस खुलासे के सन्दर्भ में पूर्व सेनाध्यक्ष शंकर राय चौधरी का बयान भी गौरतलब है। उनका कहना है कि “केवल सेना पर ही क्यों ध्यान केन्द्रित किया जाय! खरीद में इसकी बहुत कम भूमिका होने के कारण इसमें भ्रष्टाचार की कम ही गुंजाइश होती है। खरीद की पूरी प्रक्रिया में जहाँ लेन-देन का काम होता है वह रक्षा मंत्रालय है।”

छपते-छपते

30 मार्च को सेना के ट्रक सौदा मामले में सीबीआई ने रक्षा मंत्रालय, बीईएमएल कम्पनी और वेक्टर के अज्ञात अधिकारियों के खिलाफ धोखाधड़ी का मामला दर्ज किया है। तहकीकात के सिलसिले में सीबीआई ने दिल्ली, नोएडा और बैंगलोर के चार स्थानों पर छापा मार कर तलाशी ली।

उधर सेना अध्यक्ष वीके सिंह ने अपने और रक्षा मंत्री के बीच फैलाये गये फूट के किस्से को झूठा बताया। सीबीआई की कार्रवाइयों से भ्रष्टाचार पर कितना अंकुश लग पायेगा यह कहना तो कठिन है लेकिन इसने पक्ष-विपक्ष की सभी पार्टियों की कलई खोल दी जो भ्रष्टाचार को मुद्दा बनाने के बजाय संसद में बैठकर सेना के अनुशासन का पुराना घिसापिटा राग अलाप रहे थे। जब तक सेना को पवित्र गाय मानने वाली स्थिति बनी रहेगी, भ्रष्टाचार का नासूर की तरह बढ़ते जाना तय है।

किराये की कोख

पूँजीवाद का यह आम नियम है कि वह हर चीज को 'माल' में बदल कर मुनाफा कमाता है। इसलिए पतन की सारी हदों को पार करना और मानवीय मूल्यों का गला घोटना भी इस लुटेरी व्यवस्था के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। औरत की 'कोख' को एक 'माल' में बदल दिया जाना इसका जीवन्त उदाहरण है। 'किराये की कोख' का व्यापार अब एक उद्योग का रूप ले चुका है और मौजूदा कानून के हिसाब से कोई जुर्म नहीं है। हर साल भारी संख्या में विदेशी दम्पति हमारी गरीबी का लाभ उठाकर किराये की कोख लेने भारत आ रहे हैं। हिन्दुस्तान टाइम्स की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में इसका बाजार 2000 करोड़ रुपये से भी ज्यादा है।

'किराये की माताओं' के रूप में महिलाओं की बाजार में उपस्थित उन्हें तमाम तरह की व्याधियों का शिकार बना देता है और इस दौरान उन्हें भयानक पीड़ा से गुजरना पड़ता है। इन महिलाओं को कृतिम गर्भाधान विधि से गर्भधारण कराने से पहले कई तरह के हार्मोन इंजेक्सन और दवाईयाँ दी जाती हैं जो इनके स्वास्थ्य पर बहुत ही हानिकारक प्रभाव डालती हैं। ऐसे कई असफल प्रयासों के बाद ही गर्भधारण सफल हो पाता है। इसमें सफलता का प्रतिशत केवल 25 से 40 के बीच है। एक महिला को इस तरह के कितने चक्रों से गुजारा जाय ताकि उसके स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव न पड़े, यह धन लोलुप डॉक्टरों द्वारा तय किया जाता है जो ज्यादातर मामलों में उनके स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव की अनदेखी करते हैं। इस प्रक्रिया में गर्भ में एक से अधिक बच्चे ठहरने की सम्भावना भी बहुत ज्यादा होती है और किराये की माताएँ अक्सर गर्भपात का शिकार हो जाती हैं। इस तरह ये सभी जोखिम उठाने के बदले उन्हें कितना पैसा दिया जाय इसका कोई मापदण्ड निर्धारित नहीं है। असली कमाई निजी अस्पतालों के मालिक और इस धन्धे में लगे डॉक्टरों की ही होती है।

एक साल पहले फिल्म अभिनेता आमिर खान ने भी 'किराये की कोख' से अपना बच्चा पैदा करवाया था। इस

घटना का समाचार देने वाले समाचार पत्रों और टीवी चैनलों ने 'किराये की कोख' को सन्तानहीन दम्पतियों के लिए वरदान के रूप में महिमामण्डित किया। मीडिया का यह रुख कोई नया नहीं। इस अमानवीय कारोबार को एक सुनहरे अवसर के रूप में प्रस्तुत करने वाले लेख और रिपोर्ट आये दिन मीडिया में देखने को मिलते हैं। सन्तान पैदा करने में असमर्थ दम्पतियों के लिए 'किराये की कोख' का एक उद्योग के रूप में फलना-फूलना लोगों के दिमाग में रक्त सम्बन्धों की पवित्रता और अपनी सन्तान की लालसा जैसी दकियानूसी सोच का नतीजा है। इसकी जगह 'बच्चा गोद लेना' कहीं ज्यादा मानवीय और संवेदनशील विकल्प है।

हालांकि हमारे देश में 'किराये की कोख' से संतान उत्पन्न करना कोई नयी बात नहीं है। पहले भी पत्नी की जगह कोई दूसरी महिला किराये की माँ बनती थी जिसे बिना किसी धन लाभ के सन्तान पैदा करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। लेकिन इसे व्यापक समाज में स्वीकृति नहीं मिलती थी। परम्परागत रूप से अन्य व्यभिचारों, जैसे-वेश्यवृत्ति आदि की तरह इसे गुप्त रखा जाता था। आज की तरह यह खुले रूप में और इतने बड़े पैमाने पर नहीं होता था। पिछले कुछ सालों के दौरान मीडिया ने इस कारोबार को खूब प्रचारित प्रसारित किया है लेकिन निवेश के लिए बाजार ढूँढ रही इस मरणासन्न पूँजीवादी व्यवस्था को जहाँ कहीं भी निवेश की थोड़ी सी गुंजाइश दिखती है, खुद को जिन्दा रखने के लिए वह उसी ओर भागती है, चाहे वह कितना भी घटिया, अमानुषिक और घृणास्पद क्यों न हो।

कोई भी संवेदनशील व्यक्ति और समाज इस घृणित, विकृत और अनैतिक पेशे को भला कैसे बढ़ावा दे सकता है। मुनाफाखोरी की व्यवस्था हमारे समाज को पतन के जिस गर्त में ले जा रही है उसी का एक रूप है-मातृत्व को बाजार के अधीन लाना। यह अत्यन्त क्षोभकारी है।

बांग्ला देश सीमा के निवासियों की दर्दनाक जिन्दगी

बीएसएफ के जवानों के द्वारा एक नौजवान की निर्मम पिटाई के दृश्य वाला एक वीडियो पिछले दिनों प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में चर्चित हुआ। घटना भारत-बांग्लादेश की सीमा से लगे पश्चिम बंगाल के रानीनगर थाना क्षेत्र (जिला-मुर्शिदाबाद) की है। वीडियो में बीएसएफ के जवानों द्वारा एक लड़के को नंगा करके ताबड़तोड़ पीटते हुए दिखाया गया है। स्थानीय लोगों के अनुसार पशु तस्करी करते हुए तीन लड़के पकड़े गये थे जिनमें एक भारतीय और दो बांग्लादेशी थे। लोगों ने यह भी बताया कि ये वीडियो उन्हीं सैनिकों ने बनाया था।

आम जनता को फौजी बूटों के नीचे कुचले जाने की घटनाएँ अक्सर समाचारों में आती हैं, लेकिन ऐसी घटना जिसमें दहशत फैलाने के लिए सेना के जवानों ने खुद वीडियो बनाकर लोगों में बाँटा हो, अचरज में डाल देने वाली है।

बीएसएफ के अधिकारी जिस पशु तस्करी का बार-बार हवाला दे रहे हैं, यह उस सीमावर्ती क्षेत्र का बहु-प्रचलित कारोबार है जिसका कुल व्यापार लगभग पाँच हजार करोड़ रुपये सालाना है। यह पश्चिम बंगाल के निर्धनतम जिलों का एक मुख्य रोजगार है। इस व्यापार की तीन मुख्य कड़ियाँ हैं- पहला, ठेकेदार जो व्यापार में धन और पशु दोनों का मालिक होता है। दूसरा, दलाल जो तीन प्रकार के होते हैं- कस्टम दलाल, पुलिस दलाल, बीएसएफ दलाल। इन तीनों का समूह 'कमीशन' कहलाता है। ये ठेकेदार और तस्करों के बीच की कड़ी मात्र हैं, लेकिन इनके पास मुनाफे का बड़ा हिस्सा पहुँचता है। तीसरा रखाल या मजदूर जो सबसे ज्यादा जोखिम उठाता है और जिसकी आमदनी सबसे कम होती है। ये गायों को सीमा पार करवाते हैं और मजदूरी तभी मिलती है जब वे बांग्लादेश में निश्चित स्थानों पर गायों को छोड़कर वापस आते हैं। मजदूर अक्सर पकड़े जाते हैं, जेल जाते हैं और यहाँ तक कि सीमापार करते हुए उन्हें गोली भी मार दी जाती है।

कुछ रखाल मजदूर आपस में पैसे इकट्ठे करके जब पशु तस्करी का अपना कारोबार शुरू करते हैं, तो इन्हें घटियाल कहते हैं ये खुद ही पशु खरीदते हैं, उन्हें सीमापार करवाते

हैं और बेचकर वापस आते हैं। सबसे ज्यादा जोखिम इन्हीं के सिर पर होता है।

पशु व्यापार भारत में गैर-कानूनी है, लेकिन फिर भी शासन-प्रशासन की शह पर धड़ल्ले से चलने वाला कारोबार है। छोटे व्यापारी कम लागत और कम पशुओं के साथ व्यापार करते हैं। वहाँ एक कहावत प्रचलित है- 'ज्यादा जोखिम, ज्यादा मुनाफा।' कस्टम, पुलिस और बीएसएफ से उनके हिस्से (घूस) को बचाकर, बिना उनकी रजामन्दी के जब ज्यादा मुनाफे के चक्कर में ये छोटे व्यापारी सीमा पार कर रहे होते हैं तभी उनकी जान पर बन आती है। अगर आपसी लेन-देन और तालमेल सही हो तो कोई खतरा नहीं होता। ये ज्यादा मुनाफा भी कितना हो सकता है? इसका अनुमान आसिफ इकबाल (उम्र 13 वर्ष) और शाहीन शेख (उम्र 15 वर्ष) की मौत से लगाया जा सकता है जिन्हें 200 रुपये के लिए सीमा पार करते समय गोली मार दी गयी थी।

बीएसएफ के आला अधिकारियों का कहना है कि उन्होंने किसी सामान्य नागरिक को गोली नहीं मारी है बल्कि वे ही गोलियों के शिकार हुए हैं। जिन्होंने सीमा क्षेत्र के कानून तोड़े हैं दरअसल बीएसएफ के जवानों को सीमा क्षेत्र में गोली चलाने का अधिकार नहीं है। वे गोली तभी चला सकते हैं जब उनकी जान को खतरा हो, लेकिन सुमन्त मंडल (उम्र 15 वर्ष) की हत्या तब हुई जब वह शाम 5 बजे के बाद अपने ही खेत में सरसों काट रहा था। सुशांत मंडल (उम्र 15 वर्ष) की हत्या तब हुई जब वह तालाब में तैर रहा था। उसके ऊपर मोटर बोट चलाकर उसके ब्लेड से इस नौजवान की हत्या की गयी। अखिर इन नाबालिग लड़कों ने बीएसएफ पर कौन सा कातिलाना हमला किया था।

सीमावर्ती इलाकों में काम करने वाली ढाका स्थिति गैर सरकारी संस्था 'ओदिकार' के अनुसार पिछले कुछ सालों में सीमा के आर-पार 1000 से अधिक हत्याएँ हो चुकी हैं। कोलकाता स्थित एक अन्य गैर सरकारी संस्था 'मासुम' ने 150 से अधिक शिकायतें मानवाधिकार आयोग में डाली हैं। जिनमें से 29 शिकायतें ठण्डे बस्ते में डाली जा चुकी हैं।

बाकी लम्बित हैं। 'मासुम' के अनुसार ऐसी किसी वारदात में बीएसएफ के कर्मचारी को दोषी नहीं ठहराया गया है। बॉर्डर सिक्वोरिटी एक्ट के अनुसार बीएसएफ के कर्मचारी पर सार्वजनिक मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। 'मासुम' द्वारा दर्ज कराये गये मुकदमों में से 16 को बीएसएफ के आन्तरिक अदालत में स्थानान्तरित करवा लिया गया है। ये आवश्यक नहीं कि बीएसएफ के किसी कर्मचारी को यहाँ अपराधी घोषित किया जायें। जबकि पशु तस्करी का एक हिस्सा सबके खातों में जाता होगा।

आये दिन गोलियों का शिकार होने वाले पश्चिम बंगाल के ये गरीब लोग कोई हमलावर नहीं हैं। पशु तस्करी जैसा

पेशा अपना इनकी मजबूरी है क्योंकि सरकार ने उन्हें हाशिये पर धकेल दिया है। ऐसे में जिन्दा रहने के लिए वे कोई भी जोखिम उठाने को मजबूर हैं। जिन्दगी जीना इतना कठिन है कि मौत का रास्ता चुनना भी उन्हें सहज लगता है। भुखमरी और बेरोजगारी से बेहाल, महानगरों की चकाचौंध से दूर, मजबूर अपनी जिन्दगी दाव पर रखकर ये लोग पशु तस्करी का कार्य कर रहे हैं। इनके खून-पसीने को नोट और सिक्कों में बदलने का कार्य ठेकेदार, सरकारी दलाल, कस्टम पुलिस और बीएसएफ के जवान सब मिलकर कर रहे हैं। इस व्यवस्था के रहनुमाओं के पास उनके बारे में सोचने की न चिन्ता है और न वक्त।

कुख्यात वेदान्ता कम्पनी फिर कटघरे में

कुख्यात कम्पनी वेदान्ता समूह फिर विवादों के घेरे में है। आदिवासी जनजाति और पर्यावरण को बचाने की मुहिम में लगे लोगों ने इस कम्पनी का कड़ा विरोध किया जो भारत के सम्पूर्ण खनिज को मुनाफे की हवस का शिकार बना रही है और जिसे हमारे देश के रहनुमा कुछ विदेशी मुद्रा के चक्कर में लगातार बचाने की कोशिश में लगे हुए हैं। इस बार गृह मंत्रालय के आन्तरिक सुरक्षा विभाग ने इस पर आरोप तय किये हैं जिसमें इस कुख्यात कम्पनी को भुगतान में देरी, मानव अधिकारों का हनन और पर्यावरण के नुकसान का दोषी ठहराया गया है। भुगतान जाँच निदेशालय के मुताबिक वेदान्ता के हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड ने वस्तुओं के निर्यात के समय सरकारी कोष को 2 करोड़ रुपये की चपत लगायी। एक अन्य रिपोर्ट में वेदान्ता की सीसा गोआ लिमिटेड ने मंगलूर बन्दरगाह से लौह अयस्क के निर्यात के समय 95.48 लाख रुपये का सीमा शुल्क देने से इनकार किया। इन दोनों मामलों की जाँच पड़ताल जारी है।

वेदान्ता के कुकर्मों की कहानी भारत ही नहीं विदेशों में भी चर्चा का विषय रही है। 2007 में ऑयल फण्ड के नाम से ज्ञात नॉर्वे के सरकारी पेन्शन कोष ने भारत में पर्यावरण के नुकसान और मानवधिकारों के हनन का दोषी होने के कारण वेदान्ता को 350 अरब डॉलर के भुगतान से वंचित कर दिया था। चर्च ऑफ इंग्लैण्ड ने भी वेदान्ता को इन्हीं कारणों से निवेश करने से मना कर दिया। इंग्लैण्ड और भारत

दोनों देशों की अदालतों में वेदान्ता ग्रुप के विरुद्ध बहुत से मुकदमों चल रहे हैं।

मार्च 2009 में ओडिसा के लांजीगढ़ में 874 मिलियन डॉलर (4370 करोड़ रुपये) का एलुमिना रिफाइनरी प्रोजेक्ट पर्यावरण के नुकसान की कीमत पर लगाया जा रहा था। वहाँ हजारों आदिवासी जनजातियों ने उसका विरोध किया। जनवरी 2009 में नियामगिरी पहाड़ी क्षेत्र पर बॉक्साइट की खुदाई को रोकने के लिए वहाँ की डोंगरिया कोंध प्रजाति को बचाने के लिए हजारों लोगों ने नियामगिरी पर्वत को मानव शृंखला बनाकर घेराव किया और विरोध प्रकट किया।

इतने विरोधों के बावजूद भारत सरकार के कानों पर जूँ तक नहीं रेंग रही है। वेदान्ता के मुनाफे की हवस और सरकार का डॉलर के प्रति प्रेम और समर्पण आज आदिवासी जनजातियों की जीविका और संस्कृति को नष्ट करने पर आमादा है। पर्यावरण पर उन आदिवासी जनजातियों का पूर्ण अधिकार है। क्योंकि हजारों सालों से इन आदिवासी जनजातियों ने ही इन प्राकृतिक सम्पदाओं को बचाकर रखा है और जिसे सरकार कौड़ी के मोल वेदान्ता जैसी कम्पनियों को बेच रही है। इस लूट का विरोध करने वालों का बर्बर दमन किया जा रहा है। इस व्यवस्था में हमारे देश के रहनुमाओं का काम सिर्फ वेदान्ता जैसी कुकर्मों कम्पनियों को बढ़ावा देना है। देश की जनता और पर्यावरण के विषय में सोचने की उन्हें फुर्सत नहीं।

11वर्ष में इन्टरनेशनल फकीरों को विदेशों से 82 हजार करोड़ की भीख रुपये

भारत में कार्यरत स्वयंसेवी संस्थाओं को 11 वर्ष में विदेशों से 82,083 करोड़ रुपये अनुदान के रूप में प्राप्त हुए हैं। यह सूचना 'आरटीआई' कानून के तहत गृह मंत्रालय ने दी। मंत्रालय ने यह भी कहा कि इन 11 वर्ष की अवधि के दौरान अनुदान प्राप्त करने वाले संगठनों के नामों की सूची, उनके पते और प्रत्येक संगठन द्वारा प्राप्त राशि के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध कराने का कार्य करना संभव नहीं है क्योंकि इससे सार्वजनिक प्राधिकार के संसाधनों का दुरुपयोग होगा।

बहरहाल, गृह मंत्रालय ने अपनी वेबसाइट पर 41 एनजीओ की सूची जारी की है जिन्हें अब तक विदेशी अभिदान नियमन कानून 'एफआरसीए' के तहत विदेशों से प्राप्त कोष के दुरुपयोग और हेराफेरी के कारण प्रतिबंधित किया गया है। लोकसभा के शीतकालीन सत्र में एक प्रश्न के लिखित उत्तर में गृह राज्य मंत्री ने बताया था कि 2009-10 में भारत में कार्यरत स्वयंसेवी संस्थाओं को सबसे अधिक अनुदान अमरीका ने दिये। जबकि दूसरे स्थान पर जर्मनी और तीसरे स्थान पर ब्रिटेन हैं।

आरटीआई के तहत प्राप्त जानकारी के अनुसार, 2009-10 में 21,508 संस्थाओं को विदेशों से अनुदान के रूप में 10,337.59 करोड़ रुपये प्राप्त हुए। जबकि 1999-2000 में 13,979 संस्थाओं को 3,923.83 करोड़ रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ था। इस तरह इन सालों में दान पाने वाली संस्थाओं की संख्या में 153 प्रतिशत और उन्हें मिलने वाले दान में 263 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे जनता की दुर्दशा और गुस्सा बढ़ रहा है, उसी रफ्तार से एनजीओ का कारोबार भी फल-फूल रहा है। एनजीओ की संचालक शक्ति विदेशी पूँजी है और यह हमारे जमीन से उठने वाले आन्दोलन को संघर्ष के रास्ते से हटाकर सुधारों की भूल-भुलैया में भटकाने का काम करती है। इनकी विनाशक क्षमता समझे बिना और वैचारिक रूप से इन्हें पराजित किये बगैर कोई भी सच्चा आन्दोलन खड़ा करना नामुमकिन है।

सरकार की तैयारी : आम जनता से पानी छीन लो

22 जनवरी 2012 के अंग्रेजी दैनिक 'द हिन्दू' के अनुसार केंद्र सरकार नयी राष्ट्रीय जल नीति लाने की तैयारी शुरू कर दी है। इस नीति के अन्तर्गत जल निकासी सेवा का निजीकरण कर दिया जायेगा। जनता को पानी के उपयोग के लिए इसका पूरा मूल्य अदा करना होगा। इस नीति के तहत सरकार जल वितरण के काम से अपने को अलग कर लेगी तथा निजी कम्पनियों को यह कार्य सौंप देगी। इस नीति में यह प्रावधान है कि किसानों तथा घरेलू उपयोग के लिये पानी पर दी जा रही सभी तरह की सब्सिडी खत्म कर दी जायेगी, लेकिन निजी कम्पनियों को सब्सिडी और रियायतें दी जायेंगी। यह भी प्रस्तावित है कि कृषि के लिये दी जा रही बिजली पर सब्सिडी में कटौती की जायेगी ताकि बिजली और पानी का दुरुपयोग बंद हो सके।

2005 में विश्व बैंक ने माँग की थी कि भारत में "सिंचाई, पानी और सफाई प्रबंध के लिए बाजारू प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।"

सरकार प्रस्तावित राष्ट्रीय जल नीति में विश्व बैंक की माँग को ही पूरा करने जा रही हैं। देश के अन्तर्गत भूजल, नदी और तालाब को कम्पनियों के हाथों में सौंपने की एक योजना तैयार हो रही है। प्रकृति की यह अनमोल धरोहर अब जनता से छीन ली जायेगी। यह नीति भी आर्थिक सुधार के तथाकथिक दूसरे चरण का हिस्सा है। इस नीति का क्या परिणाम होगा यह किसी से छिपा नहीं है। भारत में 60 प्रतिशत से ज्यादा लोगों की खाद्य सुरक्षा नहीं है। पहले से एक बड़ी आबादी के लिए बहुत कम मौजूद पानी अब अनाज की तरह बहुत महँगा हो जायेगा।

देश की गरीब जनता अब महँगा पानी कैसे जुटायेगी? पूँजीवादी समाज की यह तार्किक परिणति है। प्रधानमंत्री द्वारा बच्चों के कुपोषण को 'राष्ट्रीय शर्म' बताना क्या महज घड़ियाली आँसू नहीं है?

भारत में मनमोहन सिंह विश्वबैंक के जरिये आर्थिक सुधार का कर्ता-धर्ता नियुक्त किया गया है। 21 साल पहले वे वित्तमंत्री थे। फिर ओहदा बढ़ गया और वे प्रधानमंत्री बन गये। इसके बाद वे विश्वबैंक, साम्राज्यवाद और पूँजीपतियों के प्रति अपनी ईमानदारी निभायेंगे ही।

इस देश के मुट्ठीभर अमीर जितना पानी अपने गोल्फ कोर्स की सिंचाई, स्विमिंग पुल और जल क्रीड़ा में बहाते हैं उसकी कोई इन्तहा नहीं है। अमीरों की ऐय्यसी का साधन और गरीबों की जरूरत का पानी दोनों को एक ही दाम पर मिलेगा। यही

है "अन्धे नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा"। इस देश की सरकार और शासक वर्ग के सभी हिस्से अब उन गुलामों के मालिक के नये अवतार हैं जो गुलामों की जलती लाश की रोशनी में पूरी रात दावत उड़ाया करते थे।

1991 में बर्बर युग का एक नया अध्याय शुरू हुआ था। न सिर्फ हमारे देश में बल्कि दुनिया भर में। उस अध्याय में नये-नये पृष्ठ जुड़ते जा रहे हैं। जैसे-खुदरा बाजार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्या, किसानों से छीनी जा रही भूमि, आदिवासियों को उजाड़कर उनका जंगल कब्जा कर लेना, जनता से दूर होती जा रही शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ और ऊपर से भ्रष्टाचार। लेकिन इसी अध्याय के साथ कुछ और भी जुड़ने लगा है। जनता का उठ रहा विरोध। बर्बर युग का खात्मा सिर्फ जनता ही कर सकती है।

दलित उत्पीड़न और कानून का झांसा

दलितों पर हो रहे लगातार अत्याचार जुल्म को देखते हुए संसद ने 16 अगस्त 1989 को एक नया प्रभावी कानून बनाया जिसे "अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989" के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम में अत्याचार के अपराध के लिए दंड का विधान है। यह अधिनियम 30 जनवरी 1990 से भारत में लागू है। इस अधिनियम के लागू होने के उपरांत दलितों पर अत्याचार रुके नहीं बल्कि दिन प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। एक नजर दलित उत्पीड़न, अत्याचार, हत्याओं पर-

- बिहार के तिसखोरा में 9 फरवरी 1991 को किसान संघ द्वारा 14 दलितों की हत्या।
- देव-सहियारा में 23 जून 1991 की रात सामंती गुंडों के द्वारा 14 दलितों की हत्या।
- मीन बरसिया में 26 दिसम्बर 1997 की रात सवर्ण फ्रंट द्वारा 9 दलितों की हत्या।
- हैबस पुर में 26 मार्च 1997 को रणवीर सेना द्वारा 10 दलितों की हत्या।
- लक्ष्मण पुर बाथे में 1997 को रणवीर सेना द्वारा 61 दलितों की हत्या।
- शंकर बिगहा में 25 जनवरी 1998 को रणवीर सेना द्वारा 23 दलितों की हत्या।
- मियापुर में 16 जून 2000 को रणवीर सेना द्वारा 33 दलितों की हत्या।
- झारखण्ड के मलवरिया में 4 जून 1991 को सनलाइट सेना द्वारा 11 दलितों की हत्या और भागोडीह में सनलाइट सेना द्वारा 10 दलितों की हत्या जैसे लोमहर्षक दलित नरसंहार 1989 के बाद ही हुए हैं।

राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो के अनुसार 28 राज्यों ओर सात केन्द्र शासित प्रदेशों में सन 2000-02 के दौरान दलितों के प्रति गम्भीर अपराधों में खास बढ़ोत्तरी हुई। सन 2000 में इनकी संख्या जहाँ 498 थी तो सन 2002 में बढ़कर यह 3600 के पार पहुँच गयी। इसमें पहला स्थान मध्य प्रदेश का है, जहाँ कुल 995 घटनाएँ घटित हुईं। दलित अत्याचार की घटनाओं में ओडिसा तीसरे स्थान पर रहा। रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि सन 2001 के दौरान दलित महिलाओं के प्रति 579 घटनाएँ दर्ज की गयी हैं। जिसमें मध्य प्रदेश प्रथम स्थान पर है। इस प्रकार देखा जाये तो भारत में कहीं न कहीं प्रतिघंटा दो दलितों को बेरहमी से पीटा जाता है, प्रतिदिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है, तीन दलित महिलाओं के साथ बलात्कार किया जाता है। इतना ही नहीं दो दलित घरों को आग के हवाले कर दिया जाता है और अनेक दलितों को पुलिस हिरासत में इतना सताया जाता है कि उनकी मृत्यु हो जाती है।

इन घटनाओं से साफ जाहिर है कि कानूनी उपायों और सतही सुधारों से दलित उत्पीड़न और अत्याचार का उन्मूलन सम्भव नहीं। एक प्रबल सामाजिक झंझावात ही इस समस्या को हल कर सकता है।

दुनिया पर कम्पनियों का कब्जा

‘वाल स्ट्रीट पर कब्जा करो’ आंदोलन ने अपना निशाना एक प्रतिशत कॉरपोरेट घरानों को बनाया था। उनका नारे, निशाना और नजरिया कितने सही है, इसका अंदाजा हाल ही में प्रकाशित एक अध्ययन से लगा सकते हैं।

जूरिख स्थित इंस्टिट्यूट ऑफ टेकनोलोजी की तीन सदस्यीय टीम ने एक रिपोर्ट जारी की है। इस रिपोर्ट में उन्होंने दुनिया भर की कुल 3.7 करोड़ कम्पनियों और निवेशकों में से 3060 को छोटकर अध्ययन का ब्योरा दिया है। जटिल गणतीय मॉडल से यह अध्ययन किया गया जिसमें इस बात को स्पष्ट किया गया है कि कैसे ये कम्पनियाँ अन्य कम्पनियों के शेयर खरीदकर उसमें साझेदारी करती हैं और किस तरह केवल 1318 कम्पनियों के एक गिरोह ने दुनिया की 60 प्रतिशत आमदनी पर मालिकाना कायम कर लिया है। इससे भी आगे इस रिपोर्ट ने आपस में गुँथी हुई 147 कम्पनियों के एक “महा-गिरोह” का भी पता लगाया है जिसका ऊपर बताये गये गिरोह की कुल सम्पत्ति में से 40 प्रतिशत पर कब्जा है। इन मुट्ठीभर कम्पनियों में बर्कले बैंक, जेपी मॉर्गन चेज एण्ड कम्पनी और गोल्डमैन सैक्स जैसे ज्यादातर बैंक शामिल हैं। लन्दन विश्वविद्यालय में बृहद अर्थशास्त्र के एक विशेषज्ञ का कहना है कि इस विश्लेषण का महत्त्व केवल इतना ही नहीं है कि इसने मुट्ठीभर लोगों द्वारा अर्थव्यवस्था पर कब्जा जमाये जाने को उजागर कर दिया है, बल्कि यह विश्व-अर्थव्यवस्था के टिकाऊपन के बारे में हमारी जानकारी भी बढ़ाता है।

जूरिख टीम के अनुसार कम्पनियों की ऐसी गिरोहबंदी एक विकट समस्या बन गयी है। इस गिरोहबंदी में अगर कोई एक कम्पनी डूबती है तो उससे जुड़ी तमाम कम्पनियों की अर्थव्यवस्था भरभराकर गिरने लगती है। नतीजतन पुरे विश्व की अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त हो जाती है। अमरीका में 2008 के संकट तथा अन्य संकटों ने इस बात को सही ठहराया है। जूरिख टीम का मानना है कि भले ही इस “महा-गिरोह” का जन्म सहज तरीके से हुआ हो, लेकिन विभिन्न देशों की राजनीतिक सत्ता पर इस “महा-गिरोह” का दबदबा कायम है।

जाहिर हैं कि विश्व-अर्थव्यवस्था पर अपने दबदबे से इस महा-गिरोह को असीम शक्ति हासिल हुई है। उसके

चलते इनको बेलगाम ताकत मिला है। इस बेलगाम ताकत तथा पूँजीसंचय और मुनाफाखोरी की इनकी घृणित बीमारी ने इनको इतना क्रूर और निष्ठुर बना दिया है। कि किसी देश की अर्थव्यवस्था को चुटकियों में तबाह कर देना या लाखों लोगों का कल्लेआम करवाना इनके लिए आम बात हो गयी है। अफगानिस्तान, इराक और लीबिया की तबाही इसके जीवंत उदाहरण हैं। ईरान पर हमले के लिए लगातार उकसावा भी इसी की मिसाल है।

आज जबकि यह पूरी तरह साफ हो गया है कि हमारी धरती 99 प्रतिशत आम मेहनतकश जनता और एक प्रतिशत धनाढ्यों के दो खेमों में बँट चुकी है और दुनिया की ज्यादातर मुसीबतें चाहे सामाजिक-आर्थिक संकट हो या जलवायु संकट, इन सबके पीछे इसी एक प्रतिशत लुटेरों का हाथ है। इसलिए पूरी मानवता और अपनी धरती को बचाने के लिए हर हालत में इन एक प्रतिशत के खिलाफ हम 99 प्रतिशत को एकजुट होकर इन्हें परास्त करना होगा। निश्चय ही यह ऐतिहासिक जिम्मेदारी बहुत ही चुनौती भरा है। उन्नत चेतना और मजबूत संगठन के बल पर ही यह कार्यभार पूरा किया जा सकता है।

**“किसी भी चीज पर विश्वास मत करो
सिर्फ इसलिये क्योंकि वह तुम्हें बताया गयी है
या इसलिये कि वह पारम्परिक है
या इसलिये क्योंकि तुमने उसकी कल्पना की है
अपने अध्यापक की बात पर विश्वास मत करो
सिर्फ उसका सम्मान करने के लिये
परन्तु सम्यक निरीक्षण और विश्लेषण के पश्चात
सभी के हित लाभ
और कल्याण के लिये
तुम्हें जो अच्छा लगे
उस मत पर विश्वास करो, उस पर बने रहो
और उसे ही अपना मार्गदर्शक मानो”**

-गौतम बुद्ध

शराबी पति का फोन पर दिया गया तलाक भी जायज

दारुल-उलूम देवबंद ने नशे की हालत में फोन पर दिये गये तलाक को भी जायज ठहराया है। दारुल-उलूम के फतवा विभाग ने 13 मार्च की इस्लामिक सेमिनरी में फतवा जारी किया है। एक महिला के भाई ने दारुल ईफ्ता से अपनी बहन के भविष्य को लेकर फरियाद की कि उसके बहनोई ने नशे की हालत में तीन बार तलाक कह दिया। क्या उसके ऐसा करने से ही इस संतानहीन दम्पति की शादी टूट जायेगी।

ढाई साल पहले उस महिला की शादी हुई थी। शादी के कुछ समय बाद तक उसे यह नहीं पता था कि उसका पति शराबी है। हाल ही में पति ने नशे की हालत में उसे तीन बार 'तलाक' कह दिया। महिला के भाई ने फरियाद की कि उसके बहनोई को इस बात का पछतावा है। क्या शरिया के मुताबिक उसके बहन की शादी अभी जायज है।

दारुल ईफ्ता ने कहा कि "इस मामले में यह सवाल सही है और तीन बार तलाक कहने से महिला अब 'हराम' हो गयी है और बिना हलाल के दुबारा वह अपने पति से शादी नहीं कर सकती। नशे की हालत में होने या फोन से तलाक कहने पर भी यह मान्य है।"

दारुल ऊलूम के अनुसार फिर से शादी होने की शर्त यह है कि "इद्दा की मियाद खत्म होने के बाद ही एक तलाकशुदा औरत को किसी दूसरे आदमी से शादी करनी चाहिए। इस शादी के बाद अगर वह दूसरा पति उसे तलाक देता है या उसकी मौत हो जाती है, तभी वे दोनों इद्दा की मियाद पूरी होने के बाद दुबारा शादी कर सकते हैं।"

जब इत्तेहादे-मिल्लत (बरेली) के सदर, मौलाना तौकीर रजा खान से इसके बारे में पूछा गया तो उन्होंने भी कहा कि तलाक तलाक होता है, चाहे यह नशे की हालत में दिया गया हो या होशोहवास में। उनका कहना था कि तलाक एक पत्थर की तरह है और शादी एक शीशे की तरह। अगर पत्थर को शीशे पर मारा जाय तो शीशे का टूटना तय है।

इस घटना ने एक बार फिर मुस्लिम समाज में महिलाओं की दायम दर्जे की स्थिति और पुरुष प्रधान मजहबी कानूनों की असलियत को उजागर किया है। आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में आखिर कब तक मुस्लिम महिलाओं पर इस मध्य-युगीन रिवायतों को थोपा जाता रहेगा।

डीएलएफ की सम्पत्ति में उछाल

1975 में कंस्ट्रक्शन कम्पनी डीएलएफ के मालिक के पी सिंह की इस कम्पनी में शेयरों की कुल कीमत 26 लाख रुपये थी। आज 35 साल बाद डीएलएफ की कुल बाजार पूँजी 35,363.50 करोड़ रुपये हो गयी है। इसमें के पी सिंह और उनके परिवार की हिस्सेदारी 78.6 प्रतिशत है, यानी कुल हिस्सेदारी लगभग 26,522.67 करोड़ रुपये 35 सालों में इनकी तरक्की की रफ्तार 51,000 गुनी है। क्या इस दौरान डीएलएफ के लिए काम करने वाले मजदूरों की ऐसी ही तरक्की हुई? क्या इतना मुनाफा मजदूरों का हक मारकर नहीं इकट्ठा किया गया है? किसी संस्था द्वारा कमाये

गये मुनाफे की मात्रा और मुनाफा कमाने की रफ्तार उसमें काम करने वाले मजदूरों के शोषण की माप होती है। यह मुनाफा मजदूरों को किसी तरह जिन्दगी गुजारने भर मजदूरी देकर तथा उनके काम की अवधि बढ़ाकर इकट्ठा किया जाता है। जब हम डीएलएफ जैसी संस्थाओं की तरक्की की तुलना में मजदूरों की हालत देखते हैं तो तरक्की की तो बात ही क्या, उल्टे उनकी हालत बदतर ही हुई नजर आती है। सामाजिक सूचक इसके गवाह हैं कि हमारे देश की स्थिति लगातार नीचे खिसकती जा रही है और सरकार के विकास के दावे की पोल खुलती जा रही है।

किसने चुकायी अफगानिस्तान पर अमरीकी हमले की कीमत

अफगानिस्तान पर अमरीकी हमले को दस साल हो गये। हमले में उस विध्वंस या जान-माल की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हानि का लेखा-जोखा लेने पर दिल दहला देने वाली तस्वीर सामने आती हैं। अक्टूबर 2011 तक सीधे जानलेवा हमलो में 14 लाख लोगों की और कब्जे के बाद लोगों को बुनियादी जरूरतों से वंचित करके 42 लाख लोगों को मौत के मुँह में धकेल दिया गया। इतना ही नहीं अफगानिस्तानी जनता के अलावा खुद हमलावर और कई देशों को भी इस बर्बरता की कीमत चुकानी पड़ी। विश्वस्तर पर कई संस्थाओं ने इस तबाही की ब्योरेवार रिपोर्ट प्रकाशित की है।

संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या विभाग के परिणाम के अनुसार हमले के बाद 5 साल से कम उम्र के 29 लाख बच्चों की मौत हुई।

संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार आयोग के अनुसार अफगानिस्तान के कुल शरणार्थियों की गिनती 32 लाख है। जिनमें 27 लाख ईरान और पाकिस्तान में तथा 4 लाख अफगानिस्तान के अन्दर ही विस्थापित हुए। ब्रिटेन टेलीग्राफ के अनुसार अमरीका की सेना और अमरीका समर्थित पाकिस्तानी सेना द्वारा बमबारी से उत्तर-पश्चिम पाकिस्तान में 25 लाख पशतूनी लोग शरणार्थी हुए। अमरीकी कब्जे के बाद अफगानिस्तान में हर साल युद्ध के कारण अभाव और वंचना के शिकार 5 साल से कम उम्र के 2 लाख 33 हजार बच्चों की मौत होती है। एक अनुमान के मुताबिक 2009 में अमरीकी कब्जे वाले अफगानिस्तान में 5 साल से कम उम्र के शिशुओं की मृत्यु दर 7 प्रतिशत थी, जबकि नाजी जर्मनी द्वारा कब्जा किये गये पोलैंड में 5 साल से कम उम्र के नवजात शिशुओं की मृत्यु दर केवल 4 प्रतिशत थी और फ्रांस में 5 प्रतिशत थी। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार अफगानिस्तान पर कब्जा करने वालों ने यहाँ स्वास्थ्य पर प्रति व्यक्ति केवल 69 अमरीकी डॉलर खर्च किये जबकि इस कब्जे का सह-अपराधी, ऑस्ट्रेलिया ने अपने देश में प्रति व्यक्ति 3382 अमरीकी डॉलर खर्च किये।

संयुक्त राष्ट्र के ड्रग और अपराध विभाग के अनुसार अफगानिस्तान में 5 साल से कम उम्र के 1000 नवजात बच्चों में से 199 की मृत्यु हो जाती है। जबकि हमलावर ऑस्ट्रेलिया में शिशु मृत्यु दर केवल 5 है। इसी प्रकार यहाँ

15 से 60 साल की उम्र वाले हजार लोगों में 440 लोगों की मौत हो जाती है जबकि हमलावर ऑस्ट्रेलिया में यह हजार में केवल 79 है। यूनिसेफ के अनुसार अफगानिस्तान में वयस्क पुरुष की तुलना में वयस्क महिलाओं की साक्षरता केवल 29 प्रतिशत है।

ऊपर दिये गये आँकड़े हमलावरों द्वारा अफगानिस्तानी जनता पर ढाये गये कहर का आईना है। यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए की हमलावर देशों के शासक अपनी आम जनता को पर्याप्त राहत पहुँचा रहे हैं। कई सारे अध्ययनों ने इसको बेनकाब किया है। नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री जोसेफ स्तिगलित्ज और हावर्ड विश्वविद्यालय की प्रोफेसर लिंडा बिल्मेश के अनुमान के मुताबिक केवल इराकी युद्ध में कुल 3000 अरब अमरीकी डॉलर खर्च हुआ, जिसका असर तेल की ऊँची कीमतों, अफगान युद्ध, अमरीकी कर्ज, घायल सैनिकों के ऊपर खर्च विश्वव्यापी वित्तीय मंदी और अमरीका की मंदी के रूप में सामने आया। मिलकेन संस्था के वरिष्ठ अध्ययता डॉ. माईक इन्ट्रिलिगेटर के अनुसार अफगान युद्ध की कुल कीमत 1,50,000 से 2,00,000 करोड़ अमरीकी डॉलर के बीच है। ऑस्ट्रेलिया की इसमें हिस्सेदारी लगभग 10,000 अरब डॉलर सालाना है।

विश्व बाजार में अफीम का व्यापार 2001 में तालिबान सरकार ने 60 प्रतिशत कम कर दिया था। अमरीकी और सहयोगी हमलावर ने दुबारा बढ़ाकर उसे 90 प्रतिशत तक कर दिया। इस अफीम उद्योग के कारण हर साल दुनिया भर में लगभग 9 लाख लोग मरते हैं। जिनमें अकेले अमरीका के 2 लाख नागरिक और ऑस्ट्रेलिया के 3 हजार नागरिक मरते हैं।

अफगान युद्ध के लगातार वित्तीय पूँजी द्वारा पथभ्रष्ट किये जाने से अमरीका और उसके सहयोगी देशों जैसे ऑस्ट्रेलिया की जनता को भारी जानलेवा दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है। एक अनुमान के अनुसार अमरीका में हर साल 10 लाख लोग गरीबी, वंचना और हत्या से मरते हैं जो पूरी तरह से रोका जा सकता है। इन मरने वालों में 30 हजार बंदूकों से, 20 हजार नवजात शिशुओं की मृत्यु, 20 हजार स्वास्थ्य बीमा के अभाव में मौत और 3 लाख गलत जीवनशैली से होने वाली मौतें हैं। इसी तरह ऑस्ट्रेलिया

के 5 लाख मूल निवासियों में हर साल 9 हजार लोग तीसरी दुनिया के लोगों जैसी बुरी हालत में जीने को मजबूर हो कर मरते हैं। परमाणु हथियारों और गरीबों के साथ मानव निर्मित ग्लोबल वार्मिंग भी आज दुनिया के सामने सबसे बड़ी समस्या में से एक हैं। अफगान युद्ध में भारी मात्रा में पूँजी झोंके जाने की वजह से अमरीका ग्लोबल वार्मिंग से निपटने पर सम्पत्ति खर्च नहीं करता। रोयल सोसाइटी के फेलो डॉ. जेम्स लवलाक और यूनिवर्सिटी ऑफ मैनेजमेंट के डायरेक्टर प्रो. कैबिन एंडरसन के अनुसार ग्लोबल वार्मिंग का समाधान न होने पर इस शताब्दी के अंत तक दुनिया भर में केवल 50 करोड़ लोग ही बचेंगे, जबकि 2050 तक दुनिया की जनसंख्या 950 करोड़ होने की संभावना है। इन आँकड़ों के आधार पर इस शताब्दी में पर्यावरणीय नरसंहार के कारण 10 अरब लोग मरेंगे। जिनमें 5 साल से कम उम्र के 5 अरब बच्चे, 3 अरब मुस्लिम समुदाय, 2 अरब भारतीय, 1.3 अरब गैरअरब अफ्रीकी, 50 करोड़ बांग्लादेशी और 30 करोड़ पाकिस्तानी शामिल हैं और यह जगजाहिर है कि ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जित करने वाले देशों में अमरीका और उसके हमलावर सहयोगी ग्लोबल वार्मिंग के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार हैं।

दुनिया को तबाह करने में अमरीका और सहयोगी हमलावर देशों की भूमिका सबसे ज्यादा है। अमरीका और

ऑस्ट्रेलिया केवल युद्ध अपराधी ही नहीं बल्कि नस्लवादी और जातिसंहारक और पर्यावरण अपराधी भी हैं।

“9/11 घटना का बुश संस्करण” नामक दस्तावेज में एक दिल दहला देने वाली सच्चाई सामने आयी है कि 9/11 (जिनमें 3000 लोग मारे गये थे) हमले में अफगानिस्तानियों का कोई हाथ नहीं था।

ओसामा बिन लादेन ने इसमें अपना हाथ होने से इनकार कर दिया था। अफगान सरकार ने किसी तीसरे देश में उसके ऊपर मुकदमा चलाने का प्रस्ताव रखा था जिसे अमरीकियों ने ठुकरा दिया था। इसके बाद न्यायिक गवाही की प्रक्रिया से बचने के लिए ओसामा बिन लादेन की हत्या एक सोची समझी साजिश के तहत कर दी गयी। असल में बहुत सारे इन्जीनियर, वास्तुकार, वैज्ञानिक, सेना और खुफिया विभाग के विशेषज्ञ का दावा है कि अमरीका ने खुद 9/11 की घटना को अंजाम दिया था, ताकि इस बहाने हव इराक और अफगानिस्तान पर हमला करे और उस इलाके पर कब्जा करके वहाँ के प्राकृतिक तेल और गैस भंडार को अपने देश की तेल कम्पनियों के हवाले कर दे।

कुल मिलाकर अफगानिस्तान पर अमरीकी हमला साम्राज्यवादी लूट के मंसूबे पूरा करने के लिये पूरी मानवता को मौत के मुँह में धकेलने वाली बेहद घिनौनी, बर्बर और वहशियाना कार्रवाई थी।

इराक पर अमरीकी हमला और खनिज तेल की लूट

इराक पर अमरीकी हमले के बाद से अब तक जारी कत्लो-गारत के सिलसिले ने पूरी तरह साबित कर दिया है कि इन सबके पीछे आतंकवादी हमले या जनसंहार के हथियारों का कोई लेना देना नहीं था। ये तो महज अमरीकी हमलावरों के मक्कारी भरे मन गढ़न्त बहाने थे। उनका असली मकसद इराक के तेल कुओं पर कब्जा जमाना था।

सद्दाम हुसैन द्वारा 1972 में इराकी तेल कुओं का राष्ट्रीकरण करने से पहले, वहाँ के तेल भण्डार पर पश्चिमी तेल कम्पनियाँ बीपी, एक्सॉन, मोबिल और शैल का इजारा कायम था। 1973 में इन कम्पनियों को वहाँ से खदेड़ दिया गया था। तभी से वे दुबारा वहाँ घुसपैठ करने की जुगत भिड़ा रहे थे। उनकी कोशिशें तब और तेज हो गयी जब बुश की

अगुवाई में कई तेल कम्पनियों के साझेदार और उनकी नौकरी बजा चुके लोगों ने अमरीकी हुकूमत पर मजबूत पकड़ कायम कर ली। आखिरकार अमरीका द्वारा इराक पर हमला करने और उसपर कब्जा जमाने के बाद वहाँ के तेल भण्डार पर इन लुटेरी तेल कम्पनियों का दुबारा दबदबा कायम हो गया।

अमरीकी हुकूमत के साथ इन तेल कम्पनियों के नाजायज रिश्ते और उससे होने वाले फायदे की जिन्दा मिशाल है टेक्सस की हन्ट ऑयल कम्पनी, जिसका मुख्य अधिकारी रे हन्ट भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति बुश का दोस्त है और बुश के राष्ट्रपति चुनाव में सबसे ज्यादा चन्दा इकट्ठा करने वालों में से एक है। इस कम्पनी ने 2007 में ही इराक कुर्गिस्तान क्षेत्रीय सरकार के साथ अलग से एक समझौता

किया और वहाँ तेल उत्पादन में साझेदारी का अधिकार हासिल कर लिया। इस समझौते का कई कारणों से विरोध हुआ। एक तो यह अमरीकी नीति के खिलाफ था, दूसरे इराक की केन्द्रीय सरकार का भी महत्व कम करने वाला था।

इराक के कानून मंत्री ने इस सौदे को गैरकानूनी बताया था। जिस इलाके में यह ठेका लिया गया था वहाँ की जमीन और तेल भण्डारों को लेकर कुर्गिस्तान क्षेत्र और बगदाद के बीच मतभेद और तनाव खत्म नहीं हुआ था। जाहिर है कि यह समझौता अमरीका को जोखिम में डाल सकता था। लेकिन बुश सरकार पर इन बातों का कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि मामला उसकी चहेती कम्पनी का था। ये सभी बातें विकीलीक्स द्वारा किये गये एक खुलासे में सामने आयी थीं।

अमरीका और यूरोप की तेल कम्पनियाँ और सरकारें अब इराक में एक नया तेल कानून बनाने के लिए लॉबिंग कर रही हैं। इसका मकसद तेल के व्यापार का निजीकरण करने और के उत्पादन में साझेदारी की पुराने दौर जैसी व्यवस्था कायम करना है। दुनिया भर के तेल उत्पादक देशों ने साझेदारी की ऐसी व्यवस्था को खारिज कर दिया है, क्योंकि इससे तेल भण्डार के मालिक देशों के बजाय तेल कम्पनियों को ज्यादा फायदा मिलता है।

इराक की जनता द्वारा निजीकरण का लगातार विरोध किये जाने के चलते अब तक यह तेल कानून पास नहीं हुआ। लेकिन जनता से चोरी छिपे या बन्दूक के दम पर ऐसे समझौते किये जा रहे हैं जिसका सबसे अधिक फायदा हमलावर देशों की कम्पनियों को हुआ है। जाहिर है कि इराक के तेल भण्डार पर विदेशी तेल कम्पनियों का कब्जा कायम करने के लिए इराक पर हमला करना और उस पर साम्राज्यवादी देशों का कब्जा होना जरूरी था। ओबामा सरकार आज भी इराक सरकार पर अपने मन माफिक तेल कानून बनाने के लिए दबाव बना रही है।

इराक पर कब्जा और वहाँ तेल क्षेत्र पर अमरीकी कम्पनियों का दबदबा कायम होने का पूरा फायदा तेल कम्पनियाँ अकेले उठा रही हैं। माँग और पूर्ति के नियम को धता बताते हुए तेल का दोहन और भण्डार बढ़ने के बावजूद ये इजारेदार कम्पनियाँ तेल की कीमतें घटाने के बजाय बढ़ाती जा रही हैं। अमरीका में ही फरवरी 2010 में पेट्रोलियम गैस की कीमत 2.7 डॉलर प्रति गैलन थी जो 2011 में बढ़कर 3.33 डॉलर प्रति गैलन हो गयी है। इस लूट-खसोट

का ही नतीजा है कि 2010 में अमरीका की तीन तेल कम्पनियों- एक्सन मोबिल, सेवरॉल और कोनोको फिलिप्स का सारा खर्च काटने के बाद कुल मुनाफा 58.3 अरब डॉलर रहा जो हैरतअंगेज है।

इराक पर हमले के दौरान तेल के उत्पादन में कमी होने का हवा खड़ा कर तेल कम्पनियों ने कीमतों में भारी वृद्धि की थी जिसके परिणामस्वरूप इराक पर हमले के शुरुआती तीन वर्षों में अकेले एक्सन मोबिल ने ही 666 अरब डॉलर का मुनाफा कमाया। शेवरॉन ऑयल ने जिसमें पहले कोंडलिजा राइस डायरेक्टर की नौकरी करती थी, इस दौरान 250 अरब डॉलर का मुनाफा कमाया। अगर सारा हिसाब-किताब लगाया जाय तो अनुमान है कि इन कम्पनियों ने उससे कहीं ज्यादा कमाई कर ली होगी, जितना अमरीका ने युद्ध में झोंका।

इराक पर हमला अमरीका के उस पुराने कुकर्म का दोहराव था जो उसने ईरान के साथ किया था। 1953 में सीआईए द्वारा मुशद्दक की चुनी हुई सरकार का तख्ता पलट करवाने का मकसद भी तेल कम्पनियों की लूट के लिए रास्ता साफ करना ही था। शाह ईरान के तानाशाही दौर में अमरीकी तेल कम्पनियाँ- गल्फ, स्टैंडर्ड, टेक्सको और मोबिल को ईरान की राष्ट्रीय तेल कम्पनी में 40 प्रतिशत की हिस्सेदारी दी गयी। 1953 में ईरान की मुशद्दक सरकार न तो नाभिकीय हथियार बना रही थी और न ही इजराइल के लिए खतरा थी, जिसे बहाना बना कर अमरीका अब ईरान पर हमले की साजिश रच रहा है।

60 साल पहले ईरान में तख्ता पलट करवाने और अब एक बार फिर उस पर हमले की तैयारी के पीछे भी वही साम्राज्यवादी मंसूबा है- तेल कम्पनियों की लूट-खसोट को बढ़ावा देना। साम्राज्यवादियों का वह खूनी खेल तब तक जारी रहेगा, जब तक दुनिया की शोषित-पीड़ित जनता और खास तौर पर गरीब देशों के अवाग साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के निर्णायक अन्त के लिए उठ खड़े नहीं होते। पिछली सदी के पूर्वाद्ध में क्रांतियों और मुक्तियुद्धों ने इतिहास को आगे बढ़ाया था और एक बार फिर साम्राज्यवादियों और उनके पिछलग्गू शासकों ने ऐसी ही फिजा तैयार की है। इस लूट तंत्र के खिलाफ आक्रोश का लावा सुलग रहा है। दुनिया भर में जनांदोलन की एक नयी सुगबुगाहट दरअसल एक नये दौर की आहट है।

ब्रिक देशों का चौथा सम्मेलन

नई दिल्ली में 28-29 मार्च को सम्पन्न ब्रिक (ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिणी अफ्रीका) देशों के चौथे सम्मेलन के बाद से इन देशों के व्यापार मंत्रियों ने घोषणा की कि वे ईरान से तेल की खरीद करते रहेंगे। उल्लेखनीय है कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद द्वारा ईरान के परमाणु कार्यक्रमों को रोकने के लिए उस पर लगाये गये प्रतिबन्ध से भी आगे बढ़कर अमरीका भारत और चीन पर इस बात के लिए दबाव बना रहा है कि वे ईरान से तेल की खरीद में कटौती करें। ऐसा नहीं करने पर उसने कार्रवाई करने की धमकी दी है, जिसके तहत वह उन देशों को अमरीकी वित्तीय व्यवस्था से अलग कर देगा।

चीन के वाणिज्य मंत्री ने अमरीकी प्रतिबन्ध पर अपने देश का रुख जताते हुए कहा कि हम किसी दूसरे देश के घरेलू कायदे-कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। ब्रिक देशों के संयुक्त बयान में भी इसी राय को दुहराते हुए कहा गया कि ब्रिक देश केवल संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों का पालन करेंगे। किसी अन्य देश द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों को मानना उनकी मजबूरी नहीं है।

ईरान पर प्रतिबन्ध के चलते कच्चे तेल की कीमतों के बढ़ने को लेकर पूरी दुनिया में अफरा-तफरी मची हुई है। भारत अपने तेल आयात का 12 प्रतिशत और चीन 20 प्रतिशत ईरान से आयात करता है। ऐसे में अमरीकी धमकी के आगे झुकने और उसकी शर्तों को मानने का इन दोनों अर्थव्यवस्थाओं पर काफी बुरा असर होगा। इसलिए तेल

आयात से सम्बन्धित ब्रिक संयुक्त बयान काफी महत्वपूर्ण है।

इस सम्मेलन में ईरान और सीरिया की समस्याओं के लिए बीच का रास्ता अपनाने और बहुपक्षी वार्ताओं के जरिये हल निकालने की सिफारिश करते हुए कहा गया कि टकराव का नतीजा विनाशकारी होगा। सम्मेलन में पश्चिम द्वारा अपने व्यापार प्रतिबन्धों को दूसरे देशों से मनवाने के लिए अपनाये जा रहे दबाव रणकौशल की भर्त्सना की गयी।

ईरान और सीरिया से सम्बन्धित कड़े बयानों के बावजूद इसमें राजनीतिक मुद्दों को कम महत्व दिया गया। मुख्य जोर आपसी आर्थिक सहयोग पर था, जिसमें एक संयुक्त बैंक की स्थापना और आपसी व्यापार को आसान बनाना प्रमुख था। दुनिया में छायी मंदी से निपटने के संदर्भ में इन देशों का आपसी तालमेल का यह प्रस्ताव महत्वपूर्ण है।

लेकिन ब्रिक देशों के गठबंधन को लेकर भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह अमरीकी चौधराहट वाली एक ध्रुवीय, साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ चुनौती बन कर खड़ा होने जा रहा है। नई दिल्ली सम्मेलन में इन देशों द्वारा की गयी घोषणा इस बात का प्रमाण है कि यह संगठन आर्थिक मामलों में एक-दूसरे का सहयोग करने और विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था में अपनी हिस्सेदारी के लिए सामूहिक मोल भाव करने से आगे नहीं जाने वाला। हालाँकि विश्वव्यापी मंदी तथा अमरीकी वर्चस्व और उद्धतता को देखते हुए यह बहुपक्षीय गँठजोड़ एक आगे बढ़ा हुआ कदम है।

ग्वातेनामो जेल : अमरीकी बर्बरता के दस वर्ष

हाल ही में क्यूबा के निकट एक टापू पर स्थित अमरीका की कुख्यात ग्वातेनामो जेल के दस वर्ष पूरे हो गये। गौरतलब है कि इस कारागार को बुरा शासनकाल के दौरान स्थापित किया गया था, जिसमें "पैट्रियोटिक एक्ट" के आधार पर कई देशों के ऐसे नागरिकों को बन्धक बनाकर रखा गया था, जिन पर किसी आतंकवादी संगठन के साथ सम्बन्ध रखने या उसके सदस्य होने का केवल संदेह हो।

जब 2002 में अमरीका का यह कुकृत्य सामने आया, तब उस यातना स्थल पर 21 बच्चों, 89 साल के एक बुजुर्ग

और तुर्की मूल के एक सीधे-साधे नौजवानों को कैद किया गया था। तब से अब तक इस कारवास में लगभग 171 लोगों को बंदी बनाकर यातना दी गयी, जिनमें से अधिकतर अरबवासी, मुसलमान या दक्षिण-पूर्वी एशियाई मूल के लोग रहे हैं। खुद संयुक्त राष्ट्र के आँकड़ों के अनुसार इनमें से 717 का अलकायदा या किसी भी अन्य आतंकी संगठन से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

इन बंदियों को छोटे पिंजड़े में लोहे की जंजीरों से बाँधकर इस तरह प्रताड़ित किया जाता रहा है, जिसे कोई

भी सभ्य समाज बर्दाश्त नहीं कर सकता।

चौकाने वाली बात तो यह है कि इन बंदियों को वहाँ बिना किसी मुकदमा या आरोप के रखा गया था और यदि कोई मुकदमा चला भी तो उसे सैन्य न्यायालय में गुप्त रूप से चलाया गया, जिसमें असैनिक न्यायालय का कोई भी हस्तक्षेप नहीं था। यहाँ तक कि वकीलों को भी बंदियों से बातचीत करने, उनकी रिकॉर्डिंग करने या किसी भी प्रकार के दस्तावेजों की लेन-देन से रोका गया।

अमरीकी सरकार इस अन्यायपूर्ण कृत्य को यह कहकर सही ठहराती रही है कि ग्वाटेनामो नौसैनिक अड्डा अमरीका की सीमा के अंतर्गत नहीं आता। अमरीका उसे अपने एक अस्थायी पट्टा या “लीज” की तरह मानता है, जबकि अमरीकियों ने इस टापू को 1902 में क्यूबा पर से अपना कब्जा छोड़ने की एक शर्त के रूप में हड़प लिया था।

वर्तमान अंतरराष्ट्रीय कानूनों के अनुसार 1902 की यह संधि केवल अमान्य ही नहीं बल्कि गैरकानूनी भी है। जाहिर है कि अमरीकी प्रशासन ने इस स्थान का दुरुपयोग संयुक्त राष्ट्र के न्यायालयों के कानूनी शिकंजे से बचने के लिए किया।

सच्चाई यह है कि ग्वाटेनामो के बंदियों की जिन्दगी को नरक बनाने के लिए पूरी तरह अमरीकी सरकार जिम्मेदार है। मानवाधिकारों और आतंकवाद के खिलाफ युद्ध के नाम पर अमरीका सबसे अधिक मानवता विरोधी कुकर्मों में लिप्त है। संयुक्त राष्ट्र के अधिकारी खुद ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस तरह मानवता विरोधी शिविरों के अस्तित्व से आतंकी संगठनों को नयी भर्ती करने में मदद मिलती है, हालाँकि बयानबाजी के सिवा अब तक उसने कोई कदम नहीं उठाया और अमरीकापरस्ती के रास्ते पर ही चलता रहा है। यही है साम्राज्यवादी लुटेरों का लोकतंत्र। यही है उनका असली चेहरा जो दुनिया भर में लोकतंत्र की खरीद-फरोख्त करते फिरते हैं।

गाजियाबाद के बिल्डरों को तो आप जानते ही हैं

गाजियाबाद के बिल्डरों को तो आप जानते ही हैं
उनमें से एक ने राजनीतिक सांस्कृतिक पत्रिका निकाली

जिसमें विचारधाराओं वाले लोग

कविताएँ वगैरह समीक्षाएँ वगैरह विचार वगैरह लिखने लगे

पत्रिका निरन्तर घाटे में निकल रही थी

लेकिन मालिक को घाटा नहीं हो रहा था वह

नौकरशाहों और मंत्रियों के पास जाया करता था

और पत्रिका के अंक दिखाया करता था

मतलब कि वह बिना यह कहे ताकतवरों को

डराया करता था कि ये बड़े-बड़े विचारक आप पर

बहुत विश्लेषणात्मक तरीके से लिख सकते हैं

मतलब कि आप के धंधों पर और आपके घपलों पर

मतलब कि आप भी हमें देश को उजाड़ने दें कि जैसे

हम आपको हर तरह के पतन का मौका दे रहे हैं

नहीं तो जैसा कि मैंने बिना कहे कहा कि

ये बड़े-बड़े लोग आप पर बहुत

विश्लेषणात्मक तरीके से लिख सकते हैं

और जो अपना विश्लेषण कम करते हैं

और जो आप ही देखिये हम जैसे अपराधियों के पैसे से

कितनी अच्छी और मानवीय पत्रिका निकालते रहते हैं

-देवी प्रसाद मिश्र

(जलसा 2010 “अधूरी बातें” में प्रकाशित)

ईरान पर हमला करने के दस समुचित कारण

('काउन्टरपंच' में प्रकाशित इस व्यंग्य को अमरीकियों के कुतर्क और सनकीपन ने अभिधा में बदल दिया। वे सचमुच इन्हीं तर्कों के आधार पर ईरान के ऊपर कठोर प्रतिबन्ध लगा चुके हैं और पूरी दुनिया पर उसे लागू करने के लिए दबाव डाल रहे हैं।)

1. अगर ईरान पर हमला किया गया तो वह जवाबी कार्रवाई करेगा, जो कि एक युद्ध अपराध होगा। और युद्ध अपराध के लिए सजा जरूरी है।

2. मेरे टेलीविजन ने कहा है कि ईरान के पास नाभिकीय हथियार है। मुझे पूरा यकीन है कि इस बार तो यह बात सही ही है। यही बात उत्तरी कोरिया के मामले में भी सही है। हम केवल उन्हीं देशों पर बमबारी करते हैं जिनके पास या तो सचमुच में नाभिकीय हथियार होते हैं या वे बुराई की धुरी होते हैं। केवल इराक को छोड़कर उसकी बात कुछ और थी।

3. इराक की हालत बहुत बुरी नहीं है। अगर इस बात को ध्यान में रखा जाए कि वहाँ की सरकार कितनी घटिया है, तो बहुत सारे लोगों के मरने या देश छोड़कर चले जाने के बाद वहाँ की स्थिति काफी बेहतर हो गयी है। यह सब नहीं हो पाता अगर हमने योजना के अनुसार काम न किया होता।

4. जब हमने ईरान से तेल नहीं खरीदने की धमकी दी तो ईरान ने हमें तेल नहीं देने की धमकी दी, जो बिल्कुल भी बर्दाश्त से बाहर है। हम उस तेल के बिना क्या कर पायेंगे? और यदि वह बेचने पर राजी ही हो जाये, तो खरीदने से क्या फायदा?

5. 9/11 की घटना में ईरान का गुप्त रूप से हाथ था। मैंने इसे ऑनलाइन पढ़ा है। और अगर उसका हाथ नहीं था तो यह और भी बुरी बात है। ईरान ने सदियों से किसी दूसरे देश पर हमला नहीं किया। इसका मतलब यही है कि वह जल्द ही हमला करेगा।

6. अमरीकियों और इजराइलियों से भिन्न ईरानी कट्टर धार्मिक होते हैं। ज्यादातर इजराइली ईरान पर हमला नहीं चाहते।

पर वहाँ की पवित्र सरकार हमला चाहती है। इस फैसले का विरोध करना ईश्वर के विरुद्ध पाप है।

7. अ) ईरानी इतने मूर्ख हैं कि जब हमने उसके वैज्ञानिकों की हत्या की तो उन्होंने वाशिंगटन स्थित टेक्सास में एक कार डीलर को भाड़े पर लिया ताकि वह मैक्सिको में नशीले पदार्थ की तस्करी करने वाले एक गिरोह के सरदार को भाड़े पर रखे ताकि वह वाशिंगटन स्थित सऊदी अरब के राजदूत की हत्या करे, और उन्होंने कुछ किया भी नहीं। उन्होंने यह सारा काम सिर्फ इसलिए किया कि हम उनको पकड़ें और दुनिया भर में हमारी बदनामी हो।

7. ब) ओह! इन मूर्खों पर तो बम गिरा देना चाहिए। वे सभ्य नहीं हैं।

8. युद्ध अमरीका की अर्थव्यवस्था के लिए फायदेमन्द है और ईरान के लिए भी। ईरान में मौजूद अमरीकी फौजी वहाँ का सामान खरीदेंगे। और जो महिलाएँ युद्ध के बाद जिंदा बचेंगी उनको ज्यादा अधिकार प्राप्त होंगे। जैसा वर्जीनिया में हुआ था, 1953 की उस छोटी सी दुर्घटना के बाद (उसी वर्ष सीआईए ने ईरान की चुनी हुई मुसद्दक सरकार का तख्तापलट किया था) हम ईरान के शुकुगुजार हैं।

9. इस पूरे क्षेत्र को एकजुट करने का बस यही एक तरीका है। या तो हम ईरान पर बमबारी करें और वह हमारे प्रति शाश्वत प्रेम की शपथ ले। या अगर जरूरी हो तो ईरान की मुक्ति के लिए हम उस पर कब्जा कर लें, जैसा हमने उसके पड़ोसी देश के साथ किया। इसमें ज्यादा समय नहीं लगेगा। देखिए तो सही, अफगानिस्तान की हालत कितनी अच्छी है।

10. वे हमारा ड्रोन वापस नहीं दे रहे हैं। अब तो हद ही हो गयी।

फिरकापरस्त गिरोह की बढ़ती सीनाजोरी

—मदनजीत सिंह

एक फ्रांसीसी पत्रकार जिसने मेरी किताब **कल्चर्स एण्ड वल्चर्स** पढ़ी, वह अचम्भे में पड़ गया कि आध्यात्मिक भारत में मेरे नास्तिक विश्वास और सिख धर्म का सहअस्तित्व कैसे कायम है।

मेरे नास्तिक विश्वास उस सिख धर्म से जुदा नहीं है जो मूलतः हिन्दू दर्शन पर आधारित है। मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में एस राधाकृष्णन द्वारा लिखे जाने वाले गीता के प्रवचनों का हवाला दिया। विद्यार्थी उस दार्शनिक से यह जानकारी पाकर दंग रह गये कि उत्तर मीमांसा जिसे वेदान्त के नाम से भी जाना जाता है, उसे छोड़कर हिन्दू दर्शन की अधिकांश शास्त्रीय प्रणालियाँ ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती हैं। उन्होंने कहा कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा तथा बृहस्पति का चार्वाक, महावीर का जैन धर्म थेरवाद का बौद्धधर्म जैसे सभी शुरुआती मत थे। अज्ञेयवादी थे। गौतम सिद्धार्थ बुद्ध (569-483 ईसापूर्व) ने इन्हें अपनी ज्ञान प्राप्ति का साक्षी मानते हुए धरती का स्पर्श किया था।

रोमिला थापर ने यूनेस्को की किताब **मानवता का इतिहास** का संशोधन करने के लिए आयोजित बैठक में इस बात पर बल दिया था। प्रख्यात इतिहासकार ने कहा कि 'आध्यात्मिक भारत' में अनीश्वरवादी भौतिकवाद का सबसे पहले प्रतिवादन करने वाले चार्वाक थे। उन्होंने 'भाग्य' 'आत्मा' या 'परलोक' जैसी अलौकिक बातों को बकवास बताते हुए खारिज कर दिया था। अजीत केशकम्बली बुद्ध के समकालीन थे। उनका मानना था कि मनुष्य धूल से धूल में, राख से राख में और धरती से धरती में मिल जाता है और इस दुनिया के अलावा कोई और दुनिया नहीं है। उन्होंने वेद के रचयिताओं को विदूषक, धूर्त और दानव कहा था।

आश्चर्यजनक है कि केशकम्बली के विचार 25 शताब्दियों तक कैसे गूढ़ रहस्य बने रहे और हमारे युग में एक नास्तिक और वेदों के कटु आलोचक इ वी रामास्वामी ने फिर

से उनका आह्वान किया। उन्होंने हिन्दू देवी-देवताओं की नकल करते हुए हजारों औरतों और मर्दों को प्रदर्शन के लिए सड़क पर उतारा। यूनेस्को ने उन्हें अभूतपूर्व प्रशंसा पत्र के द्वारा सम्मानित किया— नये युग के मसीहा, दक्षिण एशिया के सुकरात, सामाजिक सुधार आन्दोलन के जनक तथा अज्ञानता, अंधविश्वास, व्यर्थ परम्पराओं और घटिया रीति-रिवाज के दुश्मन। 1973 में उनकी मृत्यु होने तक भारत के लोग खुल कर अपने मन की बात कहने में समर्थ थे। दलित 'राष्ट्र विरोधी' का ठप्पा लगाये जाने के बगैर मनुस्मृति की भर्त्सना कर पाते थे। आब्रे मेनन के रामायण को पढ़ कर लोग हँस सकते थे, जिसमें उन्होंने अन्दाजा लगाया था कि सीता का अपहरण नहीं हुआ था, बल्कि वह लंका के खूबसूरत राजा के साथ भाग गयी थी। तमिलनाडु के पूर्व मुख्यमंत्री एम करुणानिधि नास्तिक हैं, इस बात का मजाक उड़ाया था कि मन्नार की खाड़ी के आर-पार रामसेतु पुल का निर्माण बंदरों ने किया था। उन्होंने पूछा कि "राम क्या?" "यह राम कौन हैं?" "किस इंजीनियरिंग कालेज से राम ने पढ़ाई की थी?"

वोट बैंक

हिन्दू राजनीतिक एजेंडे ने नास्तिकता से भ्रष्ट होने वाली हिन्दू धर्म की अज्ञेयवादी दार्शनिक प्रणाली को खारिज कर दिया। वोट बैंक को लक्ष्य बनाते हुए उन्होंने मेरे दोस्त एम एफ हुसैन पर इल्जाम लगाया कि वे हिन्दू देवियों का अश्लील चित्र बनाते हैं जबकि परम्परागत रूप से उन्हें मन्दिरों और तीर्थस्थानों में नग्न रूप में चित्रित किया जाता रहा है। हिन्दू पर्सनल लॉ बोर्ड ने उस महान कलाकार का सर काटने वाले को 5 लाख करोड़ का इनाम घोषित किया। बजरंग दल और विश्व हिन्दू परिषद के कार्यक्रमों ने उनके मुम्बई स्थित आवास को तहस-नहस किया तथा हुसैन की आंखें फोड़ने और हाथ काटने वालों के लिए पैसे और सोने की ईंट देने का एलान किया, जैसा कि कुरान की आयतों में मुसलमानों का आह्वान

करते हुए लिखा है “काफिरों को मार डालो और उनके सर और उँगलियाँ काट डालो।”

इस्लामी ‘संगसार करने वाले’ जो हज यात्रा के दौरान काफिर को पत्थर मारते हैं, उनमें से कुछ लोग संघ परिवार के ‘फंडूसों’ (यह उपाधि लेखिका गीता हरिहरन ने दी है) के साम्प्रदायिक गिरोह में छलांग मार कर चढ़ गये। ऑल इंडिया उलेमा कौंसिल ने हुसैन की फिल्म *मीनाक्षी* दिखाये जाने के खिलाफ प्रदर्शन किया जिसके एक गाने में औरतों के सौंदर्य की प्रशंसा करने वाले एक गीत की पंक्तियाँ पैगम्बर हजरत मोहम्मद के व्यक्तित्व की प्रशंसा में लिखे धार्मिक पदों से मिलती थी। इस धमकी के बाद वह फिल्म सिनेमा घरों से हटा दी गयी।

इन्हीं घटनाओं के दौरान उनके खिलाफ मैंने ऑल इण्डिया कौंसिल के प्रमुख तकी रजा खान के खिलाफ झंडा उठाया जो चाहते थे कि तस्लीमा नसरीन को भारत से निकाल बाहर किया जाय, जिसने औरतों के अधिकारों का उलंघन करने वाले शरिया कानूनों की आलोचना की थी। उसने तसलीमा को कत्ल करने वाले के लिए 5 लाख का इनाम घोषित किया था। 2005 में उसे इजाजत दी गयी थी। अपने सांस्कृतिक वातावरण के चलते कोलकाता तस्लीमा का प्रिय शहर था।

तकी रजा खान को 2007 के स्थानीय निकाय चुनावों के दौरान अनपेक्षित सहयोगी मिल गया जब काँग्रेस कार्यकर्ताओं ने मुस्लिम वोट की लालसा में तस्लीमा और साथ ही सीपीएम के खिलाफ एक प्रदर्शन को उकसाया। 22 नवम्बर को पुलिस के पहरे में उसे कोलकाता से बाहर कर दिया गया। पहले उसे हवाई जहाज से जयपुर भेजा गया और फिर उसी दिन दिल्ली ले जाकर एकान्तवास में रखा गया। मानवाधिकार के उलंघन से क्रुद्ध होकर मैंने कई सरकारी अधिकारियों से सम्पर्क साधा और हफ्तों तक ज्योति बसु सहित कई राजनेताओं से पत्राचार करता रहा। जब ये सभी प्रयास, यहाँ तक कि भूख हड़ताल करने की धमकी भी बेअसर रही तब मैंने मनमोहन सिंह को यह दलील देते हुए पत्र लिखा कि तस्लीमा का कोलकाता से निकाला जाना भारत की सांस्कृतिक परम्परा के खिलाफ है। मैंने 5वीं शताब्दी में राजा सिबी के शासनकाल में बनायी गयी अजन्ता चित्र-कलाओं की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया, जिन्होंने एक पंडुक पंछी को बहेलियेए से बचाने के लिए उसके वजन भर मांस देना स्वीकार कर लिया था। प्रधान मंत्री हमारे पत्रों की प्राप्ति सूचना देते रहे लेकिन 4 अप्रैल 2008

को लिखे उनके दो पन्ने के पत्र का पारदर्शी सद्भाव और मर्म अभूतपूर्व था। अन्तिम पंक्तियों में भारत के धर्मनिरपेक्ष विचार तथा मानवाधिकार और मान-सम्मान के आदर की पुष्टि की गयी थी। उन्होंने लिखा “जाति और पंथ, समुदाय और धर्म के भेदभाव से ऊपर उठकर लोगों का स्वागत करने की गौरवशाली भारतीय परम्परा जारी रहेगी। देश के भीतर एक छोटे से हिस्से द्वारा नफरत का माहौल तैयार करने की लगातार कोशिशें हमें इस पर कायम रहने से नहीं रोक पायेंगी। हम तसलीमा नसरीन के अपने पसंद के किसी भी देश में, इस मामले में भारत में रहने के अधिकार को स्वीकार करते हैं। वे जिस शहर या राज्य में रहना पसंद करें उसका विकल्प उनके लिए खुला है।” तसलीमा बहुत खुश हुई कि अब वह दिल्ली में मेरी मेहमान के रूप में जब तक जी चाहे रह पायेगी।

एक स्वांग

उस पत्र से धार्मिक भावना आहत होने के राजनीतिक स्वांग को रोकने की जो उम्मीद जगी थी वह झूठी साबित हुई जब कोलकाता पुस्तक मेले में तसलीमा की किताब *निर्वासन* को रोका गया। इसके पहले देवबंद के सदस्यों ने सलमान रूइदी को जयपुर साहित्य उत्सव में भाग लेने से रोका था। धार्मिक कट्टरपंथियों ने फिर उसी हास्यापद नाटक को दोहराया और *स्टेनिक वर्सेज* के अंश पढ़ने वाले चार प्रतिनिधियों के खिलाफ उनकी “नीयत” को लेकर मुकदमा दायर करने की पहल की। इसने अनुच्छेद 19 (2) के तहत भारतीय न्यायशास्त्र को अभिव्यक्ति की आजादी की अंतहीन व्याख्या के दलदल में धकेल दिया गया।

अदालतें तब तक धार्मिक कट्टरता के नागपाश से मुक्त नहीं हो सकतीं, जब तक फंडूस और संगसार करने वाले किसी मामले को साम्प्रदायिक रूप से परिभाषित करते रहेंगे और भारत की अज्ञेयवादी सभ्यता को नजरअंदाज करते रहेंगे, जो भारत के धर्मनिरपेक्ष संविधान का स्रोत है। मुझे धर्मनिरपेक्ष विचार अपनी माता सुमित्रा कौर से विरासत में मिले हैं जिनकी मृत्यु 18 मार्च 1987 को हुई। सिख आदि ग्रंथ जिस मंजूषा में रखा जाता था उसके ऊपर अमरीकी विश्वविद्यालय के छात्रों को सम्बोधित कर रहे स्वामी विवेकानन्द का चित्र था, पांडिचैरी के अरविंद आश्रम की “माँ” का हाथ से बना रेखचित्र था। और लघुचित्र शैली में उस सूफी सन्त मियाँ मीर की पेन्टिंग थी, जिन्होंने अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर की आधारशिला रखी

थी। सिख पवित्र ग्रंथ में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समुदाय के सन्तों की कवितायें शामिल हैं—कबीर, नामदेव, शोख फरीद और ईश्वर के दूसरे भक्त जो संकीर्णतावादी व्याख्याओं के जरिये ईश्वर को सीमित नहीं करना चाहते थे।

गुरू नानक का सिख सम्प्रदाय भारत की उस बहुसांस्कृतिक सभ्यता से प्रेरित था जो यहाँ के परम्परागत अज्ञेयवादी दर्शन के प्रतिमानों को प्रतिबिम्बित करती है। उन्होंने जाति प्रथा, खोखले धार्मिक रिवाज, तीर्थयात्रा और चमत्कारों की निन्दा की। जीवन भर साथ रहने वाले उनके दो अनुयायियों में से एक बाला हिन्दू था और दूसरा रबाब वादक मदर्ना मुसलमान था। उन्होंने दोनों की मदद से उन्होंने धार्मिक स्थल

का निर्माण कराया जिसमें “हिन्दू ईंटे और सूफी इस्लाम का मुस्लिम गारा” इस्तेमाल किया गया था जैसा कि खुशवंत सिंह ने अपनी किताब *द हिस्ट्री ऑफ़ द सिख्स* में लिखा है।

मेरी धर्मनिरपेक्ष और नास्तिक भावनाएँ बुरी तरह आहत हैं। मैं वकीलों से सलाह मशवरा कर रहा हूँ ताकि धर्मनिरपेक्ष संविधान और अज्ञेयवादी दर्शन का माखौल उड़ाने वाले धार्मिक कट्टरपंथियों के खिलाफ कार्यवाही की जा सके।

(यूनेस्को के सद्भावना दूत मदनजीत सिंह का यह लेख 16 मार्च 2012 के ‘द हिन्दू’ में प्रकाशित हुआ था जिसका अनुवाद आभार सहित प्रस्तुत है।)

गुजरात और मोदी के कुकृत्य

—आनन्द तेलतुम्बड़े

उन दिनों की याद आते ही रूह काँप जाती है। मैंने खुद अनुभव किया है कि हिन्दुत्व गिरोह ने 2002 में गुजरात में मुसलमानों की हत्या कितने घृणास्पद और संगठित रूप से की थी। इसकी शुरुआत के 5 दिन बाद, 4 मार्च 2002 की बात है। गुजरात से आने वाली रक्तरंजित कहानियों से व्यथित, किसी भी व्यक्ति की तरह लेकिन एक नागरिक अधिकार कार्यकर्ता के अक्खड़पन के साथ मैं अहमदाबाद के लिए चल पड़ा। यह वही शहर है जहाँ भारतीय प्रबन्धन संस्थान (आईआईएम) में पढ़ने के दौरान मैं उसे बहुत प्यार करता था।

हवाई जहाज में केवल 10 प्रतिशत सीटें भरी थीं। हवाई अड्डे पर तो किसी अशुभ घटना का कोई संकेत नहीं मिला, लेकिन ज्योंही मैंने शहर में प्रवेश किया पिछले तीन दिनों के जखम एक-एक कर तेजी से सामने आने लगे। योजना के मुताबिक उपद्रव वाले इलाकों में चलने के लिए मैंने एक मुस्लिम दोस्त को अपने साथ में लिया जो ऊँचे पद पर आसीन और एक खाते-पीते सभ्रान्त परिवार से है। मेरा ड्राइवर समझ नहीं पा रहा था कि आखिर में चाहता क्या हूँ। उसने अपने डर के बारे में भी बताया, लेकिन एक बैचेनी भरी शान्ति को बनाये रहा। पहले ही चक्र में लगभग 20 लोगों के एक गिरोह ने हमें आगे जाने से रोका और हमारे सामने सवाल

की झड़ी लगा दी। अपनी पूरी ताकत लगाकर मैंने अपनी घबराहट छुपाने की कोशिश की और उनसे पूछा कि अगर मैं मुसलमान होता तो आप क्या करते। हल्ला-हंगामा होने लगा, तभी मेरे ड्राइवर ने उस भीड़ को बताया कि मैं एक बहुत बड़ा अधिकारी हूँ और मुम्बई से आया हूँ। वे हमारे साथ कुछ भी कर सकते थे—गाड़ी को तोड़फोड़ सकते थे, हम लोगों पर हमला कर सकते थे या इससे भी आगे जा सकते थे। किसी तरह उन्होंने सावधान रहने की चेतावनी देते हुए हमें आगे जाने दिया।

एक कामचलाऊ कब्रिस्तान जिसे ठीक से भरा भी नहीं गया था और जिसके अन्दर मर्दों, औरतों और बच्चों की ढेर सारी लाशें दफन थीं। इन हादसों के दौरान किसी तरह जिन्दा बच गये लोगों का पथरायी आँखों से एकटक निहारना। उन सैकड़ों परिवारों के सामुदायिक शिविर जिन्हें अपनी जगह-जमीन से उजाड़ दिया गया था, जिन का सब कुछ लुट चुका था और जो वहाँ आधे पेट खाकर मक्खियों के झुण्ड के बीच पड़े थे। शरणार्थियों की जरूरतों का ध्यान रखने के साथ-साथ टीवी चैनल वालों से भी निपट रहे व्यस्त स्वयंसेवक और वहीं से दिखाई दे रहे अधजले मकान जो बार-बार उनकी लुटी-पिटी दुनिया की याद दिला देते। यही यादें हैं। एक शिविर से दूसरे शिविर तक घूमते वहाँ की

दुर्दशा और बदइन्तजामी को देखते और एक से बढ़कर एक दिल दहलाने वाले खूँजी के किस्से सुन-सुन कर हमारे होशो-हवास गुम हो गये। दोपहर बाद आईआईएम में मानवतावादी भावनाओं वाले छात्रों के साथ बातचीत और प्रशान्त के कार्यकर्ताओं के साथ बैठक, जहाँ ढेर सारे अधजले बच्चों की लाशों की तस्वीर देख कर मैं फूट-फूट कर रोने लगा। यह सब बर्दाश्त से बाहर था। व्यवहार विज्ञान केन्द्र में शाम को बैठक हुई जहाँ हर कठिनाई का सामना करते हुए पुनर्वास की व्यवस्था में लगे बहुत से लोगों की हिम्मत को देखकर हमारे डूबते हुए दिल को काफी तसल्ली मिली। मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी इस नरसंहार के पीछे अपने खुद के होने का सबूत दे रहा था, जैसा कि हर कोई मानता था, क्योंकि जहाँ-जहाँ तबाही मचाई जा रही थी वहाँ से जानबूझ कर उसने अपनी सरकारी मशीनरी को दूर रखा। जब पूरी दुनिया उसके अपराध पर रोष प्रकट करने लगी, तभी जाकर उसने कुछ पैबन्दसाजी शुरू की।

न हया, न दया

उस दौरान कई-कई जाँच दल गुजरात गये जिन्होंने उस त्रासदी के रक्तरंजित विवरण प्रस्तुत किये। इस अभूतपूर्व मानवीय त्रासदी के लिए राज्य सरकार और व्यक्तिगत रूप से नरेन्द्र मोदी को जिम्मेदार ठहराने के मुद्दे पर वे सभी जाँच दल एकमत थे। मई 2005 में सरकार ने राज्य सभा को बताया कि गोधरा काण्ड के बाद 2002 के दंगों में 254 हिन्दू और 790 मुस्लिम मारे गये। दंगों के दौरान कुल 223 लोगों के लापता होने की रपट दर्ज करायी गयी, 2548 लोग घायल हुए, 919 महिलाएँ विधवा हो गयीं और 606 बच्चे अनाथ हो गये। कार्यकर्ताओं ने इन आँकड़ों को पूरी तरह संदेहास्पद बताया। इसके अलावा मरने वाले हिन्दुओं में से अधिकांश आदिवासी और दलित थे, जिन्हें इस हत्याकाण्ड में पैदल सिपाहियों की तरह इस्तेमाल किया गया था (जो हिन्दुत्व ताकतों के अपराध को कई गुना बढ़ा देता है) और जिन सम्पत्तियों को नुकसान पहुँचाया गया, उनमें से अधिकांश मुसलमानों के थे। अगर मोदी एक तटस्थ मुख्यमंत्री होता, जैसा कि संविधान ने उस पर जिम्मेदारी सौंपी थी तो वह जान-माल की इस बेलगाम तबाही को नहीं रोक पाने के लिए सच्चे मन से पश्चाताप करता। लेकिन बजाय इसके, वह और उसके पिट्टू राज्य में हुए इस संगठित हत्याकाण्ड

और 27 फरवरी 2002 को साबरमती ट्रेन के डिब्बे में लगी रहस्यमय आग के बीच इस तरह लगातार कड़ी जोड़ते रहे कि उसे सुन कर उबकाई आये। इस बेसिर-पैर की बात को बढ़-चढ़ कर दुहराना उनके अपराध बोध को जाहिर करता था, इसका अहसास न तो मोदी को हुआ और न ही बीजेपी को।

कई सरकारी और गैर सरकारी तहकीकात तथा अदालतों और दुनिया भर के लोगों द्वारा रोष प्रकट किये जाने के बावजूद मोदी अपने इस शरारती जुमले के जरिये नरसंहार को उचित ठहराता रहा कि यह गोधरा में हुई क्रिया की प्रतिक्रिया था। केन्द्र द्वारा नियुक्त बनर्जी आयोग का निष्कर्ष था कि गोधरा एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना थी। यह रिपोर्ट जिसको राज्य सरकार ने तत्काल चुनौती दी, ज्यों का त्यों लेना जरूरी नहीं, लेकिन अगर कोई इस पर गौर करे कि गोधरा काण्ड की मौतों से किसने फायदा उठाया, तो यह संदेह उठना लाजिमी है कि हो सकता है, यह हिन्दुत्ववादी ताकतों की ही योजना रही हो। आखिरकार उस घटना के ठीक बाद हुए मुसलमानों के कल्लेआम के चलते ही मोदी को अपार बहुमत हासिल हुआ और इतना अधिक राजनीतिक लाभ मिला कि अब उसे भावी प्रधान मंत्री के उम्मीदवार के रूप में उछाला जा रहा है। इस तरह गोधरा काण्ड को लेकर तीन बराबर-बराबर सम्भवनाएँ सामने आती हैं- पहला, यह एक दुर्घटना थी, दूसरा, यह कुछ मुसलमानों का आपराधिक कुकृत्य था और तीसरा, यह खुद हिन्दुत्व की ताकतों द्वारा रचा गया षड्यन्त्र था।

जीवन्त गुजरात के कपट

हालाँकि इसका 2002 की हत्याओं से कोई लेना-देना नहीं, लेकिन एक और झूठ जिसे मोदी ने अपने चारों ओर एक ढाल के रूप में पिछले दस सालों में बाकायदा गढ़ा है, वह यह कि उसने ही गुजरात को खुराहाल और जीवन्त बनाया है। इसने 2002 के शिकारियों के लिए न्याय की माँग करने वालों को यह कहकर कि वे गुजरात की जनता के खिलाफ हैं और इस तरह “माफ करो और आगे बढ़ो” कहते हुए इस पूरे मामले से कतराने में मदद की। राहत शिविरों को बन्द करके अचालक मोदी ने “सब ठीक होने” की घोषणा की और 2003 में धूम-धड़ाके के साथ हर दो वर्ष पर जीवन्त गुजरात सम्मेलन के आयोजन की घोषणा की। एक सचमुच के नवाब की तरह पूँजी लगाने वालों को हर तरह के तोहफे पेश करके उसने ढेर सारे पूँजीपतियों से अपने

ऊपर तारीफ की बौछार करवाई और अपने आप को प्रधान मंत्री के लिए सही उम्मीदवार के रूप में उछाला। निवेश का वादा करने से सम्बन्धित सहमति ज्ञापनों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर प्रायोजित किया गया। लेकिन सूचना अधिकार कार्यकर्ताओं ने पता लगाया कि इनमें से सिर्फ 25 प्रतिशत ही वास्तव में अमल में लाये गये जो मुस्किल से महाराष्ट्र और तमिलनाडु के बराबर बैठते हैं। 2003 में योजना आयोग द्वारा चिन्हित देश के 447 पिछड़े जिलों में गुजरात के कुल 25 में से 20 जिले शामिल हैं। पिछड़े जिलों की इस सूची में गुजरात के डांग जिले का नाम सबसे ऊपर है। देश के 50 सबसे पिछड़े जिलों में गुजरात के 6 जिले शामिल हैं। सामाजिक क्षेत्र में बजट आवंटन के मसले में देश के 18 बड़े राज्यों में गुजरात 17वीं पायदान पर है जबकि वहाँ के सामाजिक विकास सूचक बहुत ही दयनीय स्थिति में हैं।

मोदी ने जीवन्त गुजरात के निर्माता के रूप में अपने आप को उछालने के लिए जबरदस्त जन सम्पर्क अभियान चलाया। सच्चाई यह है कि गुजरात पहले ही एक अत्यन्त औद्योगिकृत राज्य रहा है। दो दशक पहले ही गुजरात का वार्षिक विकास दर 12-13 प्रतिशत के बीच था, जो राष्ट्रीय औसत से थोड़ा ही ज्यादा है। राज्य की तिजोरी का मुँह उद्योगपतियों को लूटने के लिए खोलकर इसने देश में अरबपतियों की संख्या बढ़ाने में तो मदद की, लेकिन आम आदमी को बदहाली की ओर धकेल दिया। अन्तरराष्ट्रीय खाद्य संस्थान द्वारा जारी भारतीय भूख सूचकांक 2008 के मुताबिक गुजरात का स्थान ओडिसा से भी नीचे, 17 बड़े राज्यों में 13वाँ है, यानी सिर्फ झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश और बिहार से ऊपर। गुजरात के लोगों में खून की कमी खतरनाक स्तर पर है। वहाँ रक्त की कमी वाली महिलाओं की संख्या 1999 में 46.3 प्रतिशत से बढ़कर 2004 में 55.5 प्रतिशत हो गयी (राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे, 2006)। इसी बीच खून की कमी वाले बच्चों की संख्या 74.5 प्रतिशत से बढ़ कर 80.1 प्रतिशत हो गयी। राज्य काँग्रेस अध्यक्ष का दावा है कि मोदी के शासन काल में वहाँ 16,000 मेहनतकारों ने आत्महत्या की, जिनमें 9,829 मजदूर, 5,447 किसान और 919 खेत मजदूर शामिल हैं।

सद्भावना का नमक

रत्ती भर पछतावे के बिना, मोदी ने 2002 नरसंहार की दसवीं बरसी पर सद्भावना का स्वांग किया, जबकि

नरसंहार के शिकार हुए किसी भी व्यक्ति से मुलाकात नहीं की। अहमदाबाद के मुसलमानों का गन्दी बस्तियों में ध्रुवीकरण और आज भी साम्प्रदायिकता की आग से भयभीत लोगों को नजरन्दाज करते हुए, जिसका उत्प्रेरक खुद वही था, मुसलमानों दलितों, जैनियों, सिखों, ईसाइयों इत्यादि के बीच से दलाल किस्म के लोगों को इकट्ठा करके उसने “साम्प्रदायिक सद्भाव” का रोड शो आयोजित किया। यह उन हजारों भुक्तभोगियों के घाव पर नमक रगड़ने के समान है जो आज भी न्याय की गुहार लगा रहे हैं। लगता नहीं कि मोदी को कभी अपने पापों की सजा मिलेगी। हमारे यहाँ एक ऐसी आजमाई हुई व्यवस्था है जो पैसे वालों के लिए पूरी तरह कारगर है, लेकिन फिर भी यह जनता की उम्मीद बनाये रखती है। दस वर्षों की कानूनी लड़ाई ने केवल न्याय को कलंकित किया है जो उसके लिए फायदेमन्द साबित हुआ। काँग्रेस के सांसद रहे एहसान जाफरी की गुलबर्ग सोसायटी के 66 दूसरे निवासियों के साथ उसी दौरान हत्या की गयी थी। उनकी विधवा जकिया जाफरी द्वारा किये गये मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने जो विशेष जाँच दल नियुक्त किया था, उसे उनकी हत्याकांड के 62 मुजरिमों और उनके पथ-प्रदर्शक मोदी के खिलाफ कोई सबूत नहीं मिला। और इसी तरह निलम्बित आइपीएस अधिकारी संजीव भट्ट के बयान के बावजूद, दूसरे मामलों में भी ऐसा ही होगा। मोदी के दुष्कर्म 2002 के नरसंहार से भी आगे निकल गये हैं। हिरेन पाण्ड्या का मामला भी है जिसके परिवार वालों ने सवाल उठाया है कि हिरेन पाण्ड्या के मामले में साजिश रचनेवाला असली आदमी कौन है।

गुजरात में कई तथाकथित आतंकवादी मुठभेड़ में मारे गये जो मोदी को मारने आये थे। ऐसा ही एक मामला जिसके तथ्य-संग्रह मिशन में मैं भी शामिल था, उसके बारे में आम तौर पर यह माना जाता है कि इसका नाटक रचा गया था -19 वर्षीय छात्रा इशरत जहाँ और दो अन्य लोगों की हत्या। मामले की सुनवाई हो रही है और विशेष जाँच दल इसकी जाँच कर रहा है, लेकिन सवाल यह है कि आखिरकार न्याय होगा या नहीं। कोई भी अन्दाजा लगा सकता है कि तथाकथित आतंकवादी हमले की कहानी भी गढ़ी हुई होगी, क्योंकि ऐसे किस्से मोदी जैसे निर्लज्ज नेताओं की रणनीति में सहायक होते हैं।

सवाल यह है कि आखिर यहाँ से कहाँ जायें हम? (इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 17 मार्च, 2012 में प्रकाशित लेख का अनुवाद, साभार।)

महाशक्ति बनते भारत में बचपन का अपहरण

-बुद्धेश

बच्चे मन के सच्चे
सारे जग के आँख के तारे
ये वो नन्हे फूल हैं जो
भगवान को लगते प्यारे...

10 प्रतिशत को विकास रथ पर सवार, समृद्धि के सुपर एक्सप्रेस हाईवे पर दौड़ते देश को महाशक्ति बनाने के यज्ञ-वेदी पर इन 'नन्हे फूलों' की आहुति दी जा रही है। चारों तरफ बिखरे इन 'नन्हे फूलों' की पंखुडियों की दारूण कथा क्या बयान करती हैं? आइये इसे समझें।

एम्स में भर्ती फलक नाम की बच्ची के तार कितने मजबूती से बच्चों के अपहरण वाले गिरोह से जुड़ेगा- यह तो भविष्य ही बताएगा, लेकिन पश्चिम बंगाल में "नयी सरकार" आने के बाद से विभिन्न अस्पतालों में होने वाली कई दर्जन बच्चों की मौत ने देश को झकझोर दिया है। बच्चों की इस तरह की मौत अस्पतालों और डॉक्टरों की बढ़ती असंवेदनशीलता को उघाड़कर तो रख ही देती है, बच्चों के प्रति नजरिये को भी सामने लाती है।

मई 2011 के शुरू में दिल्ली में एक दस वर्षीय बाल मजदूर मोईन की नृशंस हत्या कर दी गयी। जाँच में पता चला की यह बालक बिहार के मधुबनी जिले के लहरियागंज गाँव का रहने वाला था, जिसे एक दलाल उसके माँ बाप से अच्छी जिन्दगी का सब्ज-बाग दिखाकर, बहला फुसलाकर दिल्ली ले आया और एक कारखानेदार के हाथों बेच दिया। उसे प्रतिदिन 14 से 16 घंटे तक काम करवाया जा रहा था और इसके बदले किसी प्रकार की कोई सुविधा भी नहीं दी जा रही थी। उसे ना तो कोई साप्ताहिक छुट्टी मिलती थी और ना ही कोई चिकित्सा की सुविधा। इतना ही नहीं, बात-बे-बात पर उसकी पिटाई भी की जाती थी। कारखानेदार ने काम के दौरान तथाकथित टारगेट पूरा न करने के कारण इतनी बेरहमी से पिटाई की कि उसकी मौत हो गयी। उसके साथ काम में लगे कुछ अन्य बच्चों को लोगों ने किसी तरह बचाया।

इसी तरह 17 मई 2011 को एक सोलह वर्षीय लड़की और उसके साथ 11 से 15 वर्ष की आयु के 8

बच्चों को दिल्ली पुलिस ने दलालों के हाथों से मुक्त कराया जिसे असम, पश्चिम बंगाल और भारत-बांग्लादेश के सीमा से लाकर दिल्ली में बेचने की कोशिश की जा रही थी।

बच्चों के खिलाफ बर्बरता और खरीद-बिक्री की यह कोई अकेली घटना नहीं है। नोएडा के पास स्थित निठारी गाँव में हुए उस लोमहर्षक काण्ड को भला कौन भुला सकता है जिसमें कई दर्जन बच्चों का यौन शोषण किया गया, उन्हें मारकर उनके अंगों का व्यापार किया गया और उनके शरीर के बचे हुए हिस्सों को घर के पास वाले नाले में बहा दिया गया। इस घटना के खुलासे के कई साल बाद आज भी इसका मुख्य सूत्रधार सजा से बचा हुआ है। सीबीआई ने उस मुख्य अपराधी को बचा लेने का कई बार संकेत भी दिया है जबकि उसके नौकर पर सारा दोष डाल दिया गया है और आदालत में फाँसी की सजा भी मुकर्रर हो गयी है।

देश भर में बच्चों के साथ किये जाने वाले इन अमानवीय हरकतों से किसी भी सभ्य समाज का सिर शर्म से झुक जायेगा। बच्चों के प्रति होने वाले इन अपराधों को हम 6 श्रेणियों में बाँटकर समझ सकते हैं- पैदा होने से पहले ही बच्चियों को मार देना, बाल मजदूरी, यौन-उत्पीड़न और देह व्यापार, अंगों के लिए मानव तस्करी, घरेलू हिंसा और भीख माँगने जैसे धिनौने धन्धों के लिए अपहरण और अंग-भंग।

पैदा होने से पहले ही बच्चों को मार देना: गर्भपात और भ्रूण हत्या

इस तरह का अपराध आम तौर पर अजन्मी बच्चियों के साथ किया जाता है। विकसित होती तकनीक की मदद से इस सामुहिक हत्याकाण्ड को पहले से अधिक पैमाने पर अंजाम दिया जाने लगा है। उत्तराधिकार के लिया लड़कों कि चाहत, मानसिक-पिछड़ेपन और धार्मिक अंधविश्वास तथा कुरीतियों और स्त्री विरोधी परम्पराओं के कारण लड़कियों की भ्रूण हत्या सामंती समाज की एक पहचान रही है। लेकिन आज 21वीं सदी में भी उक्त मनोवृत्ति में कोई भी कमी नहीं आयी है। बल्कि एक अध्ययन से यह बात उभरकर सामने आयी

है कि गाँव के मुकाबले शहर और गरीबों के मुकाबले अमीरों में यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। एक अध्ययन के मुताबिक 1980 से 2010 के बीच के 30 वर्षों में जब देश तेजी से 'ग्लोबल' होकर 'महाशक्ति' बनने के लिए लम्बे डग भरना चाहता था, एक करोड़ बीस लाख बच्चियों को पैदा होने से पहले मार दिया गया। इस प्रकार इन तीस वर्षों में से प्रत्येक वर्ष करीब चार लाख बच्चियों की सुनियोजित तरीके से हत्या की गयी। यह प्रवृत्ति आज भी जारी है। 2011 की जनगणना रिपोर्ट के मुताबिक स्त्री-पुरुषों का अनुपात भारत में लगातार ही असंतुलित होता गया है। 1000 पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों की संख्या लगातार कम होती गयी है। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे अपेक्षाकृत विकसित राज्यों में यह अनुपात हैरतअंगेज ढंग से कम हुआ है। महिलाओं में जहाँ यह राष्ट्रीय औसत प्रति हजार पुरुषों पर मात्र 940 महिलाएँ हैं वहीं बालिकाओं में और भी घटकर हजार में 914 ही रह गया है। पंजाब में 893, हरियाणा में 877, दिल्ली में 866 और चण्डीगढ़ में यह अनुपात घटकर 816 हो गया है।

'विकसित' और 'सभ्य' समाज में इसके अलावा भी बच्चों के प्रति क्रूरता बढ़ती जा रही है। लोक-लाज की वजह से होने वाली भ्रूण हत्याओं से कहीं ज्यादा भ्रूण हत्याएँ नौजवान जोड़े करवा रहे हैं जो पैसा कमाने की हवस की गिरफ्त में आ चुके हैं और जो जिन्दगी के आपाधापी में अपने घर 'आगन्तुक' का स्वागत करने के लिए तैयार नहीं हैं। ये लोग आजकल 'अमीरी के रथ' पर सवार होने की हड़बड़ी में हैं और 'मॉडर्न' बन कर देश को महाशक्ति बनाने में जी जान से तुले हुए हैं।

शिक्षित-अशिक्षित, समझदार-बेवकूफ सभी समझते हैं कि अगर बच्चे पैदा होना बन्द हो जायें या सिर्फ लड़के ही पैदा हों, लड़कियाँ पैदा न हों तो समाज का क्या हश्र होगा? लेकिन समाज के जिस शिक्षित और समझदार तबके पर बच्चों के निर्बन्ध पैदाइश की जिम्मेदारी है, आज वही तबका इन बच्चों को आने से रोक रहा है।

घरेलू हिंसा अर्थात: बच्चों के लालन-पालन का क्रूर तरीका

ऐसा नहीं है कि हमारे समाज में सिर्फ अजन्म बच्चों के साथ ही अन्याय हो रहा है। बच्चों को अपने जन्म के तुरंत बाद ही असंख्य तकलीफें उठानी पड़ रही हैं। युद्ध और प्राकृतिक

आपदाओं के शिकार तो बच्चे ही होते हैं। मगर आज माँ के गर्भ में हुए हमलों से बचे रह गये 'बच्चों' पर उनके धरती पर आते ही नित्य नये हमले शुरू हो जाते हैं। उन पर हमला कोई और नहीं, उनके माँ-बाप और सगे-सम्बन्धी ही करते हैं। इनके हथियार होते हैं- बात-बे-बात शारीरिक उत्पीड़न और मानसिक प्रताड़ना और उनपर अपनी कुठित महत्वाकांक्षाओं को लादना। दुनियाभर के संवेदनशील व्यक्ति बच्चों के लालन-पालन के कबिलाई और सामंती तौर-तरीकों को गुजरे जमाने का मानते हुए रद्द कर चुके हैं तथा उसे आधुनिक समाज के लिए त्याज्य घोषित कर चुके हैं। मगर विडम्बना यह है कि हमारे देश में इसके खिलाफ महज कुछ कानूनी खानापूर्ति के अलावा और कोई गंभीर प्रयास नहीं किया जा रहा है। घर के भीतर माँ-बाप, सगे-सम्बन्धी और स्कूलों में आध्यापक, बच्चों को पीट-पीटकर अनुशासित करना अपना प्राकृतिक अधिकार समझते हैं। वे यह भी नहीं मानते की बच्चों की कोई अपनी इच्छा होती है और उसे महत्त्व देना चाहिए। हजारों प्रकार के अध्ययन तर्कों से यह साबित कर चुका है कि घर के भीतर का सामंती वातावरण और समाज के भीतर कि पूँजीवादी स्पर्धा मासूम बचपन की इच्छाओं और आकांक्षाओं की बलि-बेदी पर चढ़ाकर उन्हें (बच्चों को) असमय प्रौढ़ बनाने पर तुले हुए हैं। ऊपर से कोढ़ में खाज यह कि साम्राज्यवादी-अपसंस्कृति ने बच्चों पर एक नये प्रकार का हमला बोला है और उन्हें तकनीक की भूल-भुल्लैया में घसीट लिया है। परिवार और परिवेश से काटकर उन्हें आधुनिक समाज के कल-पुर्जे और रोबोट 'मानव यंत्र' में बदलने का कार्य तेज गति पकड़ चुका है। दुर्भाग्य से जहाँ हमारी शिक्षा व्यवस्था को 'बचपन' बचाने की खातिर आगे आना चाहिए था, वहीं हमारी शिक्षा व्यवस्था अपने तमाम प्रगतिशील संशोधनों और सुधारों के बावजूद बचपन की पीठ पर समाज कि महत्वाकांक्षाओं का बोझ लादती जा रही है। गली-गली में शिक्षा की दुकाने खुलने के बाद भी करीब 10 करोड़ बच्चे स्कूल का मुँह तक नहीं देख पायें हैं। जो बच्चे विद्यालय जाते भी हैं उनमें से अधिकांश के ऊपर अपने माँ-बाप की इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं और कुंठाओं को पूरा करने की जिम्मेदारी होती है। जिसमें पिछड़ने का एहसास मात्र ही उन्हें असामान्य बना देता है। इतना ही नहीं, समाज की पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा ने उसे इन्सानी भावनाओं से दूर रखने का काम किया ही है। उन्हें प्रतिशत अंक और

ग्रेड में पिछड़ने का भय दिखाकर पागल होने के कगार पर ला खड़ा किया है। कौन नहीं जानता कि आज के आधुनिक दौर में परीक्षा शुरू होते ही बच्चे फोबिया के शिकार हो जाते हैं और माँ-बाप को उनके लिए मनोचिकित्सकों के पास जाना पड़ता है।

बचपन के साथ की जा रही यह क्रूरता सिर्फ गरीबी के कारण नहीं है। इसका मुख्य कारण कुछ और ही है। यह सोच और आधुनिक जीवन पद्धति की क्रूरता है जिसे आज का सभ्य समाज सीने से चिपकाये हुआ है।

बाल मजदूरी

हमारे देश में काम करने योग्य शिक्षित-अशिक्षित, कुशल-अकुशल करोड़ों नौजवान घर बैठे हैं और दर-दर की ठोकरे खा रहे हैं। जबकि 6 करोड़ बच्चों से कठिन श्रम वाले काम करवाये जा रहे हैं। विश्व में हर छठा बच्चा बाल मजदूर है जबकि भारत में हर सात में से दो बच्चा बाल मजदूरी के लिए विवश है। यह संख्या विश्व भर के बाल मजदूरों के लगभग 28 प्रतिशत के बराबर है, यानी कि जितने बाल मजदूर पूरी दुनिया में हैं उसके एक तिहाई हिस्से के बराबर बाल मजदूर सिर्फ भारत में हैं। इन 6 करोड़ बाल मजदूरों में से करीब 1 करोड़ तो बंधुआ मजदूर हैं। हालाँकि बाकी बाल मजदूरों की हालत भी इनसे कोई खास बेहतर नहीं है। इन सभी का बचपन देश की विकास गति को तेज करने के लिए नष्ट हो रहा है। सहारनपुर का लकड़ी और हौजरी उद्योग, मुरादाबाद का पीतल उद्योग, फिरोजाबाद का चूड़ी उद्योग, अलीगढ़ का ताला उद्योग, आगरा-कानपुर-सहारनपुर आदि शहरों का चमड़ा और जूता उद्योग, उत्तर प्रदेश-कर्नाटक-तमिलनाडु जैसे राज्यों के सिल्क, साड़ी और अन्य प्रकार के वस्त्र उद्योग, निर्यात के लिए सिले जाने वाला कपड़ा उद्योग, देश के अलग अलग हिस्सों में फैले ईट-भट्टे का काम और पूरे देश में फैले तमाम प्रकार के लघु और कुटीर उद्योगों में इसी बचपन को निचोड़-निचोड़कर तित्कारियों में बंद किया जा रहा है। पटाखा उद्योग में काम करने वाले बच्चों का पटाखे और बारूद में विस्फोट से घायल होने और उनके मरने की खबरों से अखबार आये दिन रंगे रहते हैं। देश के प्रत्येक शहरों में और लगभग प्रत्येक सड़कों पर खुले ढाबों और छोटे होटलों में अपना बचपन बेंचते बच्चों से भला कौन अनभिज्ञ होगा? शायद घरेलू नौकरों-नौकरानियों के

रूप में होने वाले इन बच्चों के शोषण-उत्पीड़न को हम किसी और नजरिये से देखते हैं और शायद इन्हें शोषण-उत्पीड़न की श्रेणी में रखने में हिचकिचाहट है। मेघालय 'रैट माइंस' (चूहे की बिलों जैसी कोयला खदानों) में पाँच वर्ष से आठ वर्ष के बीच के 70 हजार जो बच्चे काम कर रहे हैं, सूरत में हीरा तराशने, पत्थरों पर काम करने जैसे समाज के तमाम क्षेत्रों में 'कार्यरत' बच्चों को हम क्या बाल-मजदूरों की श्रेणी में रखना चाहेंगे? क्या रिकशा चलने वाले बच्चे 'बाल मजदूरों' की श्रेणी में आते हैं। कालीन उद्योग, पीतल उद्योग, बर्तन उद्योग, वस्त्र उद्योग, काँच उद्योग, चूड़ी उद्योग, पटाखा उद्योग, भवन निर्माण, सड़क निर्माण, चाय बागान, रबर बागान आदि तमाम प्रकार के उद्योगों - व्यावसायिक कृषि कार्यों और अन्य परम्परागत कृषि कार्यों में लगे बच्चे भी बाल मजदूर ही हैं। इनकी उम्र इनके शोषण-उत्पीड़न की प्रकृति तथा उनकी तीव्रता ही संवेदनशील इंसानों की रात की नींद और दिन का चैन खत्म करने के लिए काफी होना चाहिए। 14 साल की उम्र से 16-18 साल की उम्र के बच्चों तक से हमारा आज का समाज हर प्रकार के खतरनाक और जोखिम भरे काम कराने से नहीं हिचकता और उससे (बच्चों से) 14 से 18 घंटे तक अविराम काम लिया जाता है। हफ्ते के सातों दिन, बिना छुट्टी या विश्राम के देश के ये 'भावी कर्णधार' अपने मालिकों की क्रूरता सहने के लिए अभिशप्त हैं। दुनिया के सबसे महान लोकतंत्र में इन बच्चों को 'टारगेट पूरा' करने के नाम पर इनके 'मालिक' इन्हें डराते धमकाते और मारते-पीटते हैं। और इनके खाने के न्यूनतम खुराक में भी कटौती करते हैं। कभी-कभी ये बच्चे 'पिटार्ई' को 'झेल' नहीं पाते और इनकी असमय ही मृत्यु हो जाती है। मोईन के मामले में यही हुआ था। ये अपने अन्नदाताओं के रहमो-करम पर गुलामों की तरह जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। दिल्ली के पीरागढ़ी इलाके में पिछले साल एक जूता फ़ैक्ट्री में जब आग लग गयी तब कुछ भयानक सच्चाई सामने आयी। उस फ़ैक्ट्री में जब आग लगी तो मजदूरों में बेचैनी बढ़ गयी और वे निकल भागने के लिए रास्ता तलाशने लगे। उन्हें रास्ता इसीलिए तलाशना पड़ रहा था क्योंकि फ़ैक्ट्री में आग लगते ही फ़ैक्ट्री की बिजली काट दी गयी थी और फ़ैक्ट्री में धुआँ भर गया था जिससे अंधेरा और दम घोटू माहौल पैदा हो गया था। जो मजदूर किसी तरह दरवाजे तक पहुँच गये वे भी फ़ैक्ट्री के बाहर नहीं जा सके और फ़ैक्ट्री में जल मरे क्योंकि

फैक्ट्री के दरवाजे पर बाहर से ताला लगा था जिससे वहाँ कार्यरत कोई भी मजदूर बाहर नहीं भाग सके। जाहिर है कि फैक्ट्री में कार्यरत ज्यादातर बाल मजदूर थे और बंधुआ मजदूर थे।

कमोबेश इन्ही परिस्थितियों में देश भर में बाल मजदूरों से श्रम कराया जाता है। प्रतिदिन सुबह 6 बजे से रात 12 बजे तक काम करने वाले इन बाल मजदूरों को पारिश्रमिक के नाम पर सिर्फ 10 से 50 रुपये तक दिया जात है। उसमें भी काम के दौरान हुए नुकसान के एवज में कटौती का कोड़ा आये दिन चलता रहता है। दिल्ली के शकूरपुर में प्लेसमेंट एजेन्सी चलाने वाली एक महिला ने पुलिस को बताया है कि एक बच्चे के एवज में प्लेसमेंट एजेन्सियाँ दलालों को बीस से पच्चीस हजार रुपयों का भुगतान करती हैं। इन बच्चों को एजेन्सियाँ घरेलू नौकर के रूप में गृहस्वामी को 11 महीने का एग्रीमेंट करके सौंप देती हैं और प्रति माह प्रति बच्चों के हिसाब से 3 से 4 हजार किराया वसूलती हैं।

यौन उत्पीड़न और देह-व्यापार

भारत किसी और क्षेत्र में दुनिया में नंबर एक स्थान पर आया हो या न आया हो, लेकिन बच्चों के यौन उत्पीड़न और यौन शोषण के मामले में यह दुनिया में नंबर एक स्थान पर जरूर पहुँच गया है। यौन कारोबार के दलदल में तकरीबन 5 लाख बच्चे प्रति वर्ष धकेले जा रहे हैं। यूनिसेफ के मुताबिक भारत में 15 वर्ष के नीचे की आयु के 70 हजार से भी अधिक बच्चे एचआईवी यानी एड्स जैसी जानलेवा यौन बीमारियों की गिरफ्त में आ चुके हैं। 12 से 15 वर्ष के बीच के फुटपाथ पर रहने वाले बच्चों में से आधे से भी अधिक बच्चे यौन हिंसा के शिकार हो चुके हैं। आज देश में करीब दो करोड़ बच्चे फुटपाथ पर अपना जीवन बसर करने के लिए विवश हैं और करीब 3.5 करोड़ बच्चों को अपना घर मयस्सर नहीं है। देशभर के सभी बच्चों में से आधे से अधिक बच्चे (करीब 55 प्रतिशत) अपने जीवन में एक से अधिक बार यौन उत्पीड़न झेल चुके हैं और करोड़ों बच्चों का यौन उत्पीड़न आज भी जारी है। ध्यान रहे, 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 18 वर्ष से कम आयु के कुल बच्चों की संख्या 42 करोड़ के करीब है।

बच्चों की खरीद-फरोख्त आज एक संगठित उद्योग का रूप ले चुका है। हर साल विश्व में 12 लाख से अधिक बच्चों की खरीद-फरोख्त होती है जिसमें ज्यादातर बच्चे भारत के

होते हैं। इनमें से 60 प्रतिशत लड़कियाँ यौन व्यापार के लिए खरीदी-बेची जाती हैं।

यौन व्यापार के लिए बच्चों की खरीद-फरोख्त, इनका अपहरण कर इन्हें कोठे पर बेच देना-बैठा देना ही जैसे काफी न हो, अब तो इस घिनौने 'व्यवसाय' में एक काला अध्याय और जुड़ गया है। छोटी बच्चियों का अपहरण करके, बहला-फुसलाकर और कभी-कभी गरीब माँ-बाप से सौदा करके, पशुओं में लगाये जाने वाली 'ऑक्सिटोक्सिन' नामक इन्जेक्सन के माध्यम से उन्हें असमय ही जवान बनाया जाने लगा है। भारत में, इसके लिए मेरठ, आगरा, धौलपुर, अलवर, फिरोजपुर जैसे कस्बे-शहर 'उभर' कर सामने आये हैं। लगातार 'ऑक्सिटोक्सिन' का इन्जेक्सन देकर 6-8 महीने के भीतर ही, 5 से 6 साल की बच्चियों को 12 से 16 वर्ष की 'जवान बच्चियों' में बदला जा रहा है। मेरठ में 'पकड़ी गयी एक 'ऑक्सिटोक्सिन' से पीड़ित बच्ची का इशारा समझें तो ऐसी घिनौनी हरकत करने वालों का एक भरा-पूरा विशाल नेटवर्क है। मुम्बई दिल्ली से लेकर देश के तमाम शहरों और सिंगापुर से लेकर मध्यपूर्व के देशों में भी ऐसे ही हाल ही में जवान हुई बच्चियों को सप्लाई किया जाता है।

देश के विकास के लिए उत्तरदायी विदेशी मुद्रा कमाने के लिए अग्रणी और आकर्षक उद्योगों में शुमार किया जाता है। पर्यटन उद्योग, ऐतिहासिक इमारतों, खूबसूरत जगहों, मरुस्थल, पहाड़, नदियाँ, बर्फ, ग्लेशियर, घास के मैदान, समुद्र और उनके किनारों का पर्यटन उद्योग के अन्तर्गत काफी विकास किया जा रहा है। लेकिन दुनिया के बाकी देशों से कहीं अधिक तीव्र गति से भारत में पर्यटन उद्योग का विकास यौन व्यापार को बढ़ावा दे रहा है। तेजी से ग्लोबल होते भारत में देशी-विदेशी अमीरों, अफसरों, राजनयिकों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मालिकों, मैनेजरों का आना-जाना इन दिनों काफी प्रगति पर है। ये सरकार से पूँजी निवेश के लिए अनुकूल माहौल चाहते हैं, संरचनागत सुविधाएँ चाहते हैं। इनके विकास का सीधा असर यौन व्यापार पर पड़ता है। थाईलैंड का उदाहरण दुनिया के सामने है। जानलेवा एड्स जैसे बढ़ते यौन रोगों से भयभीत इन लोगों ने अब 'चाइल्ड सेक्स' (बाल यौनकर्मी) की माँग तेज कर दी है। इनमें अब बच्चियों के साथ छोटे उम्र के लड़कों की माँग बढ़ी है। देश के कई शहरों को इसकी मंडी में बदल दिया गया है, जहाँ से देशी-विदेशी 'ऐय्याशों' की यौन इच्छा पूर्ति के लिए 'चाइल्ड

सेक्स' सप्लाई किया जाता है। व्यावसायिक शिक्षण संस्थान और सौन्दर्य के बदलते मानक इस धिनौने व्यापार को गति देने में लगे हैं।

इस तरह के समाज विरोधी धिनौनी हरकतों के अलावा हमारे देश में एक ऐसी प्रथा भी जारी है जो अभी भी मान्यता प्राप्त है। यह भी एक प्रकार का यौन उत्पीड़न ही है। यह है बाल-विवाह। हमारे देश की करीब 47 प्रतिशत लड़कियों की शादी उनके माँ-बाप और सगे सम्बन्धियों द्वारा कम उम्र में कर दी जाती है। इस समय ये बच्चियाँ तन और मन दोनों से इस नयी जिम्मेदारी को उठाने में अभी सक्षम नहीं होती। कम उम्र में विवाह हो जाने की वजह से न सिर्फ उनके व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है और उनकी पढ़ाई-लिखाई बाधित होती है बल्कि वे आर्थिक रूप से 'परिवार और पति' की दया पर आश्रित होने के लिए मजबूर रहती हैं। एक भारी नुकसान यह भी होता है कि ये माँ बनने की स्थिति में आ जाती हैं और जच्चा-बच्चा दोनों ही की जिन्दगी खतरे में पड़ जाती है। इस प्रकार एक ऐसे नरक में इन्हें पहुँचा दिया जाता है जहाँ से मृत्यु के बाद ही उनकी मुक्ति संभव होती है।

अंगों के लिए तस्करी और अपहरण

आज के समाज में प्रचलित धारणा यह है की सिर्फ अमीरों के बच्चों का ही अपहरण किया जाता है, वह भी पैसों के लिए, फिरौती वसूलने के लिए। अगर गरीब का बच्चा गायब हो जाता है तो कहा जाता कि वह भूख और अभाव की वजह से घर से भागा होगा, फिर वापस आ जायेगा, जबकि सच्चाई कुछ और ही है। हमारे देश के करीब 60 हजार बच्चे हर साल गायब हो जाते हैं। अकेले राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली से ही प्रतिदिन 17 बच्चों के गायब होने की खबरें हैं।

आज के तनावग्रस्त जीवन की वजह से 'भूलने' की बढ़ती बीमारी के बावजूद दिल्ली से सटे नोएडा के निठारी गाँव की घटना को लोग अभी भी भूले नहीं होंगे। दर्जनों बच्चों को 'बहला फुसला कर' तथा जो नहीं बहल 'सका' अपहरण करके, उनका अंग-भंग करके, उनके अंगों को विदेशी और अमीरों को बेचा गया। अंगों के व्यापार में कई डॉक्टर और पुलिसकर्मी भी संलिप्त पाये गये हैं। कहा तो यहाँ तक गया है कि इस मामले में ऊपर के कई नेता भी संरक्षणकारी की भूमिका में हैं। बढ़ते मेडिकल टूरिज्म के साथ-साथ ही प्रत्यारोपण के लिए मानव अंगों की माँग बढ़ी है। इन अंगों के परम्परागत

दानदाता उतने नहीं हैं जितनी इनकी माँग है। देशी अमीरजादों के साथ-साथ विदेशी अमीरजादों की इस माँग को पूरी करने के लिए जरूरी है कि परम्परागत दानदाताओं से अलग किसी तरीके से इनकी व्यवस्था की जाय। ऐसी स्थिति में एक ही रास्ता बचता है, वह है मासूमों का अपहरण करके उनकी हत्या करके देशी-विदेशी धनाढ्यों को उनके अंग प्रत्यारोपित किया जाय। गरीब मरीजों के लिए ऐसी बीमारियाँ जहाँ उनकी मौत बनकर आती है, वहीं अमीरों के लिए ऐसी बीमारियाँ गरीबों की मौत बनकर आ रही हैं। इस तरह मानव अंगों का जो व्यापार पहले असंगठित और स्थानीय था, वह अब बढ़ते हुए काफी संगठित हो गया है और विश्वव्यापी नेटवर्क का एक हिस्सा बन गया है, अर्थात् ग्लोबल हो गया है।

जानकारों के बीच इस बात की भी चर्चा है कि कुछ साल पहले घटित 'चर्चित हत्याकाण्ड' की आरुषि तलवार नामक लड़की के हत्यारे भी इस तरह के नेटवर्क से जुड़े हुए हो सकते हैं।

आज कल मानव अंगों के व्यापार में एक धिनौना अध्याय और जुड़ गया है- मानव खाल का व्यापार। जवान दिखने की लालसा वाले अमीरों की काया को जवान बनाने के लिए, उनकी कॉस्मेटिक सर्जरी के लिए 12 से 16 वर्ष के बच्चों की खाल का इस्तेमाल किया जाता है। इन बच्चों की खाल न तो ज्यादा नाजुक होती है न ही ज्यादा कठोर। ऐसी स्थिति में यह कॉस्मेटिक सर्जरी के लिए, त्वचा प्रत्यारोपण के लिए सबसे अधिक उपयुक्त मानी जाती है। यह 'नया' धंधा और 'आधुनिक' है। इसे नये धंधे में बरकत ज्यादा है और चिकित्सा-जगत की मुनाफाखोर बड़ी हस्तियाँ इसके कर्ता-धर्ता बतायी जाती हैं।

मेडिकल टूरिज्म आजकल विदेशी मुद्रा कमाने का एक नया किन्तु विकसित क्षेत्र उभर रहा है। भारतीय सरकार काफी जोर-शोर से इस धंधे को प्रोत्साहित कर रही है। इसके तहत 'विदेशी मेहमानों' को भारत में इलाज करने के लिए आमंत्रित किया जाता है और उन्हें इलाज के खर्चों में सब्सिडी दी जाती है। कई जीवन रक्षक दवाइयों को 'मूल्य नियंत्रण प्रणाली' से बाहर करके गरीबों से 'प्राकृतिक और घरेलू' चिकित्सा के लिए मजबूर करने वाली हमारी सरकार 'विदेशी मेहमानों' का इलाज करने वालों को सब्सिडी देती है और उन्हें सर-आँखों पे बिठाती है। विदेशों में खर्चीले होते जाने वाले इलाज की वजह से वहाँ से लोग सस्ते इलाज की तलाश में हमारे जैसे

देशों की ओर रुख कर रहे हैं। हमारी सरकार भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा अर्जित करने का अनुमान लगा रही है। ऐसी परिस्थिति का मानव अंगों के व्यापार से सीधा रिश्ता है। जितनी तेजी से मेडिकल टूरिज्म का विस्तार हो रहा है, मानव अंगों के व्यापार में (अन्य कारणों के अलावा इस कारण से भी) उतनी ही तेजी आ रही है और बच्चों का अपहरण उतना ही ज्यादा होने लगा है।

अन्य पेशों के लिए बच्चों का अपहरण

बच्चों का अपहरण सिर्फ मानव अंगों के घृणित व्यापार के लिए ही नहीं किया जाता है बल्कि अन्य पेशों में भी मासूम बचपन की नीलामी की जाती है। इनमें प्रमुख है-भीख माँगने, जेब काटने और मादक/नशीले पदार्थों की तस्करी जैसे काम।

भीख माँगने का व्यवसाय आजकल जोरों पर है। यह भारत में सालाना 500 करोड़ का आँकड़ा पार कर गया है। हमारे देश में प्रति वर्ष 3 लाख बच्चों को देश के अलग-अलग हिस्सों से अपहरण करके इस धंधे में जबरन धकेला जाता है। पर्यटन स्थलों, तीर्थ स्थानों, छोटे-बड़े मन्दिरों, ट्रैफिक सिग्नलों, चौराहों, रेलवे स्टेशन और ऐसे ही अन्य सार्वजनिक महत्त्व की जगहों सहित, बसों, ट्रेनों में भीख माँगते बच्चों को आसानी से देखा जा सकता है। इन बच्चों को जान बूझकर भूखा और अर्धनग्न अवस्था में रखा जाता है ताकि इनकी याचना की दीनता में पुट आ सके और ये वास्तविक भिखारी नजर आ सकें। यह व्यवसाय भी आज संगठित उद्योग का रूप ले चुका है। गिरोह वाले इनकी निगरानी के लिए बाकायदा 'सुपरवाइजर' भी नियुक्त करते हैं। खबरों के मुताबिक कानपुर जैसे शहर इस धंधों के केंद्र के रूप में उभरें हैं। इसी तरह का एक धंधा और है- जेब काटने का। अध्येयताओं को इस 'धंधे' में भी बड़ों के साथ बच्चों के इस्तेमाल का प्रमाण मिला है तथा इसके प्रशिक्षण केंद्र के रूप में गाजियाबाद जैसे इलाके उभरें हैं। इधर ड्रग्स की सप्लाई और नशीले पदार्थों की तस्करी के लिए भी बच्चों का इस्तेमाल बढ़ा है। मुंबई जैसे माफिया शासित शहर इस तरह के कारोबार के रूप में उभरें हैं।

आजादी के इतने बरस बाद भी बच्चों के साथ होने वाले अपराधों में कमी आने के बजाय बढ़ोत्तरी हो रही है। 'नयी आर्थिक नीति' के लागू होने के बाद काफी तीव्र बढ़ोत्तरी दर्ज की गयी है। पुलिस प्रशासन और तमाम कानूनों के बावजूद अपराधियों के हौसले पस्त होने के बजाय बुलंद हो रहे हैं।

सैकड़ों प्रकार के स्वयं सेवी संगठनों की उपस्थिति भी बाल अपराधों में होने वाली बढ़ोत्तरी को रोक नहीं पा रही है। पुलिस प्रशासन के नाक के ठीक नीचे 'मासूमों की मंडिया' सजती हैं। खरीददार और विक्रेता शान से अपना 'काम' करते हैं। मोईन नामक बाल मजदूर की जहाँ हत्या की गयी, वहाँ से थाना मात्र 100 मीटर की दूरी पर था।

बच्चों की गुमशुदगी और उत्पीड़न की सिर्फ 10 से 12 प्रतिशत मामले ही दर्ज हो पाते हैं। बाकी मामले अभिभावकों की अज्ञानता, झिझक और 'अपराधों और प्रशासन' के गठजोड़ की भेंट चढ़ जाते हैं। देश की पहली महिला पुलिस अधिकारी सुश्री किरण बेदी का कहना है कि पुलिस प्रशासन के रवैये से लोग इतने परेशान और हताश हैं कि बच्चों की गुमशुदगी और शोषण उत्पीड़न के मामले को पुलिस से ज्यादा 'चाइल्ड हेल्प लाइन' के पास लेकर आने लगे हैं। राष्ट्रीय बाल अधिकार आयोग को 2010 में पूरे देश के बच्चों के उत्पीड़न की सिर्फ 75 शिकायतें मिली। उनमें दिल्ली से सिर्फ 13 और उत्तर प्रदेश में मात्र 6 शिकायतें थी। ये शिकायतें ज्यादातर स्कूलों में शिक्षकों द्वारा मारपीट की शिकायतें रही हैं। शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न के मामले के शिकार हर साल लाखों बच्चे मरते हैं। लेकिन सरकार, प्रशासन और सभ्य समाज की नींद अभी टूट नहीं रही है। खानापूर्ति के लिए बने कानूनों के अलावा हमारे देश में सरकारी गैर-सरकारी प्रयास नाकाफी हैं। हमारे देश की सरकारों की इस सम्बन्ध में संवेदनहीनता तो देखिए, अंतरराष्ट्रीय बाल श्रम संगठन ने बच्चों के अधिकारों के लिए एक प्रोटोकॉल बनाया है जिसमें बच्चों की खरीद-बिक्री, बाल वेश्यावृत्ति और ऐसे ही बच्चों के साथ होने वाले अन्य अपराधों को गैरकानूनी घोषित करके उस पर रोक लगानी होती है, लेकिन भारत ने अभी तक इस प्रोटोकॉल का अनुमोदन नहीं किया है, जबकि पकिस्तान सहित 144 देशों ने इस प्रोटोकॉल को स्वीकार कर लिया है। बाल मजदूरी को गैर-कानूनी घोषित करने के यूनिसेफ की माँग को अस्वीकार कर दिया। भारत के रहनुमाओं का जिन्हें बच्चों के कुपोषित रह जाने पर शर्म आती है (याद कीजिये प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने ऐसा ही एक वक्तव्य पिछले दिनों सार्वजनिक रूप से दिया था), कहना है कि यूनिसेफ के प्रस्ताव को मानने से भारत की जनता बेरोजगार हो जाएगी क्योंकि बाल मजदूरी भारत की विशेष परिस्थितियों में अनेक परिवारों की आजीविका का एकमात्र साधन है। कितना बेमिशाल तर्क है हमारे नेताओं का! इसके बाद भी इन्हें शर्म आ ही जाती है।

हालाँकि संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को खतरनाक उद्यमों या जोखिम भरे कार्यों में नहीं लगाया जा सकता है। सरकारी तौर पर 57 प्रक्रियाओं और 13 धंधों को भी बाल श्रम के लिए निषिद्ध किया गया है। लेकिन इन कानूनों की सच्चाई यह है कि आज भी 6 करोड़ बच्चे खतरनाक उद्यमों में कार्यरत हैं। भारत में मूलतः बाल मजदूरी गैर-कानूनी नहीं है और गुनहगारों के लिए बच निकलने के पचासों रास्ते खुले हुए हैं।

बच्चों के प्रति होने वाले अपराधों में कमी न आने या लगातार बढ़ते जाने के कुछ ठोस कारण हैं। सरकारी कानूनी प्रयास और कुछ अन्य गैर सरकारी प्रयास इन ठोस कारणों को नजरअंदाज करने की वजह से असफल रहते हैं।

बाल अपराधों के आज के दो रूप दिखाई देते हैं जो दो कारणों से पैदा होते हैं- पहला है कबीलाई और सामंती मानसिकता। घर के भीतर पैदा होने वाले तमाम किस्म के शोषण-उत्पीड़न पारंपरिक हैं तथा कबीलाई और सामंती मानसिकता के द्योतक हैं। इनमें बच्चों के प्रति परवरिश का तरीका और उनके साथ गैर-जनवादी व्यवहार तथा बाल-विवाह बच्चों के उत्पीड़न के प्रकार हैं। इसे कई बार तो माँ-बाप और सगे-सम्बन्धी सही मानते हुए अपनी ओर से बच्चों के कल्याण के लिए भरसक किये गये प्रयास के रूप में देखते हैं। ये लोग पिछड़ी मानसिकता के शिकार हैं और समाज में गैर-जनवादी व्यवहार के आदी हैं। इसके लिए पुरानी सामाजिक परम्पराएँ सीधे तौर से जिम्मेदार हैं। इसके खिलाफ वैज्ञानिक, जनवादी चेतना का प्रचार-प्रसार करना और प्रगतिशील मूल्यों तथा बच्चों के लालन-पालन के लिए प्रगतिशील तौर-तरीकों को स्थापित करना मुख्य कार्यभार बनता है।

दूसरे किस्म के बाल-अपराध के लिए मुनाफाखोर प्रवृत्ति जिम्मेदार है। बच्चों को खतरनाक से खतरनाक काम करवाना, जोखिम भरे काम करवाना, भीख माँगने के लिए उसे अपाहिज करना, जेब कतरे का काम करवाना, मादक और नशीली पदार्थों की तस्करी करवाना और वैश्यावृत्ति जैसे अति घृणित पेशे में धकेलना- यह सब बच्चों के प्रति दूषित मानसिकता से भिन्न दूसरे कारणों से होता है। यह पैसा कमाने और मुनाफा कमाने के लिए किया जाता है। बच्चों का अपहरण किया जाता है। उनके अंगों और उनकी त्वचा को भी बेचा जाता है। उनकी खरीद-फरोख्त की जाती है, उनके माँ-बाप को बच्चे के बेहतर भविष्य का झाँसा देकर उन्हें बहला फुसलाकर उनसे उनके

बच्चों को छीन लिया जाता है और उन्हें सिक्के ढालने की मशीन में जोत दिया जाता है।

इस दूसरे किस्म के अपराधों को खत्म करने के लिए कार्यभार बनता है कि ऐसी व्यवस्था को ही बदल दिया जाय, जिसमें मुनाफाखोर प्रवृत्ति हावी है और जहाँ पुलिस प्रशासन का अपराधियों से गठजोड़ होता है और कानून बेअसर हैं।

दिल्ली के एक वरिष्ठ पुलिस अफसर आमोद कंट का मानना है कि तमाम आधुनिकताओं और विकास की ओर बढ़ रहे देश में बाल-अपराध भी तेजी से बढ़ रहे हैं। विकास, सभ्यता और खुशहाली के केंद्र महानगर आज बाल-अपराधों के भी केंद्र बन गये हैं। जहाँ गाँव और पिछड़े क्षेत्र पहली किस्म के अपराधों की जमीन मुहैया कराते हैं वहीं शहर और महानगर दूसरे किस्म के अपराधों के गढ़ बन गये हैं।

जिस समाज में 47 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हों, 16 से 19 वर्ष के 80 प्रतिशत बच्चे 'आयरन' की कमी के शिकार हों, रक्ताल्पता के शिकार हों, जिस समाज में 77 प्रतिशत लोग 20 रुपया रोज पर जीवन जीने के लिए मजबूर हों, जिस समाज में 32 रुपये रोज से अधिक आय वाले गरीब नहीं मने जाते, उस समाज को क्या बाल-अपराधों से बचाया जा सकता है? जिस समाज में किसी भी तरह से पैसा कमाने की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही हो, उस समाज में बच्चों की हड्डियाँ, खालों, अंगों, और जिगर सभी कुछ बाजार में बेचकर 'पैसा कमाना' आश्चर्यजनक कैसा? क्या ऐसे समाज को बने रहने का हक है?

आओ कि कोई ख्वाब बुनें कल के वास्ते
वरना ये रात आज के संगीन दौर की
डस लेगी जान-ओ-दिल को कुछ ऐसे कि
जान-ओ-दिल
ता-उम्र फिर न कोई हसीं ख्वाब बुन सकें
-साहिर लुधियानवी

शासक वर्ग का विद्रूप चेहरा

-आनन्द

कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध प्रारम्भ होने से कुछ दिन पहले भीष्म पितामह बेचैन होकर महल में चहलकदमी कर रहे थे। वहाँ विदुर भी आये। पितामह ने पूछा “विदुर, क्या यह भयंकर युद्ध रुक नहीं सकता।” विदुर ने जवाब दिया, “पितामह! इस महल के सभी खम्भे और दिवारें जर्जर हो चुकी हैं, अब तो इसे ढह ही जाना चाहिए।”

आज भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, न्यायिक व्यवस्था भी जर्जर हो चुकी है। भारतीय व्यवस्था के एक मजबूत स्तम्भ सर्वोच्च न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों ने जिनकी आत्मा जीवित है, उन्हें इसका एहसास होने लगा है। पिछले कुछ दिनों में सर्वोच्च न्यायालय एवं उनके न्यायाधीशों ने कुछ महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं और कुछ महत्वपूर्ण फैसले दिये हैं। इसी के साथ मौजूदा व्यवस्था के चाटुकार बुद्धिजीवी, राजनेता और नौकरशाह उन्हें काट खाने के लिए दौड़ पड़े। लेकिन सत्य तो सत्य है।

एक अवसर पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश ए के गांगुली ने कहा, “भ्रष्टाचार की हमारे सामाजिक जीवन में एक मजबूत उपस्थिति है। हमारे समाज में एक बच्चे को वेश्यावृत्ति के लिए घकेला जा रहा है, एक मजदूर को उसकी मजदूरी मिले, इसके बदले उस पर हमला किया जाता है। समाज के सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार मौजूद है और इन बेजुबान लोगों के लिए यहाँ कोई न्यायपूर्ण व्यवस्था नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि “हमारे समाज में एक भ्रष्ट व्यक्ति सफल है और एक ईमानदार व्यक्ति को तो अपने जीवन के आखरी दिनों में सिर्फ दरिद्रता मिलती है।” (द हिन्दू, 7.08.2011)

काला धन

सर्वोच्च न्यायालय ने काले धन की जाँच के लिए अलग से “विशेष जाँच दल” के गठन का फैसला देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि सरकार या तो अक्षम है या फिर वह नहीं चाहती है कि विदेशों में जमा काला धन देश में

वापस लाया जाये, या काले धन को बाहर निकाला जाये।

न्यायालय का कहना है कि “देशी नागरिकों एवं सरकारी ओहदेदारों के द्वारा विदेशी बैंकों में रखे गये बेहिसाब धन देश के नागरिकों की भलाई के लिए मौलिक रूप से महत्त्व रखता है। इतनी बड़ी मात्रा में काले धन का होना इस बात का सबूत है कि राज्य टैक्स वसूल और अपराध रोकने में न सिर्फ कमजोर रवैया अख्तियार करता है बल्कि राज्य के सहयोग के बगैर इतनी बड़ी मात्रा में काला धन पैदा नहीं हो सकता और न ही गुप्त रूप से इसे बाहर भेजा जा सकता है।

“इतने बड़े पैमाने पर काले धन से यही साबित होता है कि सरकार उन लोगों से जो काले धन के बाहर हैं, टैक्स वसूली में भरपूर छूट देता है।

“इसके अलावा इतने बड़े पैमाने पर काला धन और इसका देश से बाहर जाना, यह स्वाभाविक संदेह पैदा करता है कि जनहित में कार्य करने की सरकार की क्षमता छिन्न हो गयी है।” (इण्डियन एक्सप्रेस, 9.7.2011)

आज सरकार ‘शाइनिंग इण्डिया’ का ढिंढोरा पीटते नहीं थकती। अखबारों में यह खबर मोटे अक्षरों में छपती है कि देश में अरबपतियों की संख्या बढ़ी है। यह कहा जाता है कि लोग वातानुकूलित मालों में शॉपिंग कर के गौरवान्वित होते हैं। सड़कों पर रंग-बिरंगी कारों की जैसे बाढ़ सी आ गयी है। आवाम को बताया जाता है कि 1990 के आर्थिक सुधारों ने देश की अर्थव्यवस्था को किस तरह तेज रफ्तार से आगे बढ़ाया। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय की राय तो कुछ अलग ही है।

उसका कहना है कि, “यह साफ जाहिर है कि मौजूदा विषाक्त सांस्कृतिक माहौल में लालच का गुणगान किया जाता है, खुलेआम उपभोगतावाद को सामाजिक रूप से जरूरी और महत्त्वपूर्ण माना जाता है तथा धनी व्यक्ति को भगवान का अवतार समझा जाता है। ऐसा हो सकता है कि सरकार नवउदारवादी सिद्धान्त (जो 1990 से देश में लागू है) की मान्यताओं के सामने नतमस्तक हो गयी है और उसने

अपनी भूमिका इस तरह तय कर ली है कि वह किसी व्यक्ति को धन बढ़ाने का अधिकार देगी, परन्तु उस पर कोई नियंत्रण नहीं रखेगी।” (इण्डियन एक्सप्रेस 8.07.2011)

सर्वोच्च न्यायालय शासक वर्ग को कटघरे में खड़ा करता है, उसके चरित्र को उजागर करता है और कहता है कि “देश का अभिजात्य वर्ग राज्य की शक्ति पर नियंत्रण रखता है, वह नीतिगत समझौते करता है। यह अभिजात्य वर्ग आज के कहीं अधिक शोषणकारी आर्थिक माहौल में ज्यादा से ज्यादा धन अर्जित करता है। इस अभिजात्य वर्ग से यही उम्मीद की जा सकती है कि उस पर कोई कानूनी शिकंजा नहीं है, वह खूब फले-फूले और मोटा हो।” (आउटलुक अंग्रेजी पत्रिका 22.07.2011)

विश्व साम्राज्यवाद की लुटेरी संस्था- विश्व बैंक में नौकरी करने वाले मनमोहन सिंह जो आज भारत में प्रधान मंत्री का पद सुशोभित कर रहे हैं और अपने साम्राज्यवादी आकाओं की सेवा में पूरी तरह समर्पित हैं, उनका मानना है कि देश की आंतरिक सुरक्षा के लिए नक्सलवाद सबसे बड़ा खतरा है। यह जगजाहिर है कि छत्तीसगढ़ में नक्सलवाद सक्रिय है। लेकिन भारत के सर्वोच्च न्यायालय की राय बिलकुल अलग है। न्यायालय ने छत्तीसगढ़ से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण फैसले में निम्न बातें कहीं हैं-

1. छत्तीसगढ़ में समस्या की मुख्य वजह राज्य की निजीकरण की नीति है। (इण्डियन एक्सप्रेस, 07.07.2011)

2. छत्तीसगढ़ के मुख्य दोषी “नवउदारवादी आर्थिक विचारधारा और आर्थिक वृद्धि की ओर ले जाने वाले उपभोग के चक्र का झूठा आश्वासन है कि इससे गरीबी जादुई ढंग से मिट जायेगी।” (जनवाणी, 19.07.2011)

3. अमीरों को टैक्स में छूट और गरीबों के बीच के नौजवानों के लिए बंदूक, ताकि गरीब लोग आपस में ही लड़ते रहें, यह सुरक्षा के आला अधिकारी तथा राज्य की आर्थिक नीति का नया तंत्र है।”

4. “यहाँ राज्य ने पूँजीवाद के लुटेरे स्वरूप को समर्थन और बढ़ावा दिया है। यह संवैधानिक उसूलों एवं मूल्यों का खुला उल्लंघन है। इसने खनन उद्योगों के इर्द-गिर्द अपनी जड़ें जमा ली है।... यह दलील पेश करना कि जो हो रहा है वह विकास सिद्धांत के लिए आवश्यक है और इसका परिणाम भी वही होगा, जो हो रहा है- एक अरक्षणिय दलील है।” (आउटलुक अंग्रेजी पत्रिका 25.02.2011)

पिछले 20 वर्षों में देश पर जिस विकास के मॉडल को थोपा गया है, उसमें भूमि अधिग्रहण एक ऐसा मुद्दा है जो आज विकराल रूप धारण कर के सामने आया है। सरकार ने किसानों आदिवासियों से जमीन छीनना शुरू किया और देखते ही देखते लाखों हेक्टेयर जमीन देशी-विदेशी कम्पनियों के हाथों सौंप दी गयी। इस काम के लिए सरकार ने पिछले कुछ वर्षों में ही करीब 100 से ज्यादा लोगों की हत्या की है। भूमि अधिग्रहण के विरुद्ध फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है-

1. “राज्य गरीब लोगों को भगा रही है। यह एक दुष्ट मुहीम है जो कई राज्यों के द्वारा चलाई जा रही है। यह जन विरोधी है...”

2. “विकास के नाम पर सरकार क्या कर रही है! आप मल्टीप्लेक्स, मॉल आदि के लिए भूमि अधिग्रहण कर रहे हैं जो कि आम आदमी की पहुँच से बाहर हैं। राज्य को चाहिए कि वह आम आदमी के अधिकार की सुरक्षा करे, लेकिन कुछ और ही हो रहा है...” (आउटलुक अंग्रेजी पत्रिका 25.07.2011)

सवाल यह है कि न्यायपालिका की इन चेतावनियों का सरकार पर कोई असर भी पड़ेगा?

तेरे लिए आनन्द भवन हमने बनाया।

सहरा को नवाजा तो चमन हमने बनया,
गुलशन को नवाजा तो दुल्हन हमने बनाया।

छप्पर भी मयस्सर तेरे रहने को नहीं था,
तेरे लिए आनन्द भवन हमने बनाया।

भाषा को अता करके तेरी जाम-ए-उर्दू,
जालिम तुझे अनवारे-सुखन हमने बनाया।

हम को जो सताते हो खुद ही डूब मरोगे,
अशकों से अगर गंगो-जमन हमने बनाया।

-अमा आजमी

इन्हेरिट द विंड : धर्म और विज्ञान के बीच कानूनी रस्साकस्सी

-संदीप मुद्गल

वर्ष 2009 चार्ल्स डार्विन का 200वाँ जन्मशती वर्ष था। आज के समय में जबकि क्लोनिंग में इंसान सफलता के दावे कर रहा है और काफी हद तक उसमें सफलता प्राप्त भी कर चुका है तो डार्विन के जन्मशती वर्ष में मानव उत्पत्ति पर जिस तरह के व्यापक बहस-मुबाहिसे की जरूरत थी, वह देखने को नहीं मिला। इंसान जीनोम गिनती में भी सफलता प्राप्त कर चुका है और हाल में प्रयोगशाला में निर्मित पहले जीन की सफलता से भी जीन इंजीनियरिंग की रफ्तार तेजी से बढ़ती जा रही है। इन सफलताओं के बाद भविष्य में इंसान की विकास प्रक्रिया में जो कयास लगाये जा रहे हैं, उन्हें सुनकर किसी कट्टर नास्तिक के मुँह से भी भगवान का नाम निकले बिना नहीं रह सकता।

बहरहाल, विकास की यह प्रक्रिया किसी के रोके रुकने वाली नहीं है। हाँ, इसके सम्बन्ध में कुछ आवश्यक दिशानिर्देश जरूर जारी किये जायेंगे, लेकिन अन्य उद्योगों की तरह अंततः जीन तकनीकी 'उद्योग' भी देर-सवेर ब्लैक मार्केट के हथ्थे चढ़ेगा और अपनी-अपनी पसंद का इंसान या अपना क्लोन प्रारूप बनाने के जो किस्से आज विज्ञान कथाओं में पढ़ने को मिलते हैं, उनका मूर्त रूप इंसान के सामने आयेगा। लेकिन सवाल घूम-फिरकर फिर से इंसान की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति के साथ छेड़छाड़ का उठता है, जिसके बारे में करीब 150 वर्ष पूर्व जीव विज्ञानी चार्ल्स डार्विन को संभवतः दर्ज मानव इतिहास में पहली बार कट्टरपंथियों का कोपभाजन बनना पड़ा था।

इतना ही नहीं, कुछेक स्थानों पर वर्षों बाद डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत को पढ़ाने पर भी लोगों को सामूहिक बहिष्कार और राजनीतिक षड्यंत्रों का सामना करना पड़ा था। इसकी सबसे बड़ी मिसाल वर्ष 1925 में अमरीका के टेन्सिसी राज्य में एक स्कूल अध्यापक पर चला मुकदमा था, जिसके दौरान अभियोजन पक्ष की ओर से

उस समय का एक बड़ा राष्ट्रीय स्तर का राजनेता अदालत में वकील के तौर पर मौजूद था और अपनी दलीलों में उसने बाइबिल में लिखे शब्दों को जस का तस इंसानी उत्पत्ति का बुनियादी नियम बताया था।

मुकदमे को 'मंकी ट्रायल' के नाम से प्रसिद्धी मिली थी क्योंकि डार्विन के विकासवाद नियम के अनुसार इंसान की उत्पत्ति एक विशिष्ट प्रजाति के वनमानुषों (आम धारणा के अनुसार साधारण बंदरों से, जो गलत है) से हुई थी। इसके बाद उस स्कूल अध्यापक को बेशक मामूली हर्जाने के बाद बरी कर दिया गया था, लेकिन टेन्सिसी राज्य में आज तक डार्विन का विकासवाद का सिद्धांत पढ़ाने पर मनाही है। अमरीका जैसे अति विकसित देश में इस तरह का पुरातनपंथी कानून किसी को भी हैरान-परेशान करने के लिए काफी है, लेकिन इसके पीछे चर्च और राजनीति के बीच साँठ-गाँठ इस मामले में सहज ही समझ में आती है।

मानव उत्पत्ति के सिद्धांत के विषय में आजकल के मशहूर भौतिक विज्ञानी रोजर पेनरोज ने डार्विनवाद को धर्म के ताबूत में ठोंकी गयी आखिरी कील बताया है। अगर इन उग्र शब्दों को दरकिनार कर भी दें तो भी सच यही है कि मानव उत्पत्ति के सम्बन्ध में डार्विन की थ्योरी आज तक वैज्ञानिक दृष्टि से लगभग त्रुटिहीन नजर आती है। इसके विपरीत 'इंटेलिजेंट डिजाइन' और अन्य सिद्धांत जो डार्विनवाद के विरोध से उपजे हैं, तार्किक दृष्टि से कमजोर मालूम होते हैं।

बहरहाल, वर्ष 1960 में स्टैनले क्रैमर ने 'इन्हेरिट द विंड' नामक फिल्म का निर्माण किया था जिसमें मंकी ट्रायल का सिलसिलेवार अन्वेषण किया गया था। फिल्म मुख्यतः एक अदालती ड्रामा है जिसमें पक्ष और विपक्ष का जोरदार टकराव है। एक धड़ा स्कूली अध्यापक के पक्ष में खड़ा दिखता है तो दूसरा विपक्ष में। इंसान ने अपनी मानसिक शांति के लिए कई तरीके अपनाए हैं और धर्म उसमें से एक है। इस

विषय में कोई विरोध नहीं हो सकता, और यदि समाज में धर्म का अपना स्थान है तो विज्ञान का भी है।

डार्विनवाद का चर्च से टकराव स्वयं डार्विन के समय में ही शुरू हो गया था। यह सच कमोबेश सभी धर्मों के इतिहास में दिखता है कि वह आधुनिक विज्ञान में जीव उत्पत्ति और अब क्लोनिंग को लेकर रक्षात्मक भूमिका में नजर आते हैं। टेन्सि के उस अदालती मामले में भी इसी तरह की दलीलें दी गयी थीं। हैरानी इस बात पर है कि प्रतिपक्ष की ओर से वकील के तौर पर उस समय अमरीका के उप-राष्ट्रपति पद के एक सशक्त उम्मीदवार ने हाजिरी दी थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि “एक विशिष्ट सोच की” राजनीति और धर्म का गठजोड़ सब जगह रहा है।

अध्यापक का वकील अगर एक ओर डार्विन की खोज के बारे में अपनी दलीलें रखता है तो प्रतिपक्ष बाइबिल की ओर से। दोनों का टकराव नयी और पुरानी सोच का टकराव न होकर तर्क और जड़ सोच का है। एक ऐसी सोच जो लिखे हुए शब्द को जस का तस मानती है। इसी जस का तस सोच को बचाव पक्ष का वकील अपने सबसे अचूक तर्क के तौर पर करता है।

दरअसल, प्रतिपक्ष के वकील को बचाव पक्ष का वकील बाइबिल के प्रकांड पंडित के तौर पर कठघरे में बुलाता है और कुछ जवाब तलब करता है। इसी सवाल-जवाब की शृंखला में एक मोड़ पर कठघरे में बैठा वकील गवाह कहता है कि बाइबिल के अनुसार दुनिया मात्र चौबीस घंटे में बन गयी थी जिस पर बचाव पक्ष पूछता है कि वह चौबीस घंटे किस घड़ी के अनुसार मापे गये थे, ग्रीनविच मीन टाइम या ईस्टर्न स्टैंडर्ड टाइम! जाहिर है इस सवाल का कोई जवाब नहीं मिलता। इसी चुप्पी को भांपकर बचाव पक्ष दलील देता है कि क्या वह चौबीस घंटे एक वर्ष, सौ वर्ष या हजार वर्ष के नहीं हो सकते! मात्र चौबीस घंटे लिखने का अर्थ किन्हीं विशेष संदर्भों में रहा होगा जिस बारे में आज के इन्सान को जानकारी नहीं है! यहाँ बचाव पक्ष का वकील बाइबिल को एक अच्छी किताब बताता है, पर साथ ही वह कहता है कि वह एकमात्र किताब नहीं है।

इस एक तर्क मात्र से पूरे अदालती खेल का रुख ही पलट जाता है। वही अदालत जिसने पहले बचाव पक्ष की ओर से गवाह के तौर पर हाजिर होने वाले कुछ जीव एवं

अन्य वैज्ञानिकों की बात सुनने से इनकार कर दिया था, अध्यापक को मामूली हर्जाने के बाद बरी करती है। यह बेराक मुकदमे का अंत होता है, लेकिन उस सोच का नहीं जो हमेशा कुछ नया करने की दिशा में कुलबुलाती रहती है। इस पूरे अदालती खेल में जिस एक चीज को निशाने पर रखा गया था वह थी इन्सानी सोच। वह दिमाग जो हमेशा कुछ नया करना चाहता है।

यहाँ यह सोचना भी गलत नहीं होगा कि विश्व की महाशक्तियों के सामाजिक हालात भी कथित तीसरी दुनिया के देशों से कुछ अलग नहीं रहे। इसकी वजह इंसानी उत्पत्ति में धर्म की भूमिका रही है। दुनिया के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाये तो विभिन्न सभ्यताओं के उत्थान और पतन दोनों में धर्म की भूमिका लगभग एक सी रही है। रोम के उस विशाल पुस्तकालय के जलाये जाने के बाद के एक हजार वर्षों की वैज्ञानिक चुप्पी के बाद कोपरनिकस और गैलीलियो के समय में विज्ञान की दिशा में आई तेजी को भी मठ का विरोध झेलना पड़ा था। डार्विन का समय भी इससे अलग नहीं रहा, लेकिन आधुनिक मानदंड और गणनाओं के आगे जब अतार्किक सोच घुटने टेक देती है तो वह नयी सोच की बाहें उमेटने के राजनीतिक तरीके अपनाती है, जैसा कि फिल्म में दिखाया गया है।

(बना रहे बनारस ब्लॉग से साभार)

बाइबिल कहती है कि सृजन के 6 दिनों में सम्पूर्ण काम खत्म हो गया (इस प्रकार स्वर्ग और पृथ्वी बन गये और उस पर रहने वाले सभी प्राणी भी बन गये। और सातवें दिन ईश्वर ने अपना काम जो उसने शुरू किया था खत्म कर दिया)।

दूसरी ओर, खगोल विज्ञानी मानते हैं कि ब्रह्माण्ड की शुरुआत से लेकर 15 अरब सालों के दौरान तारों का निर्माण लगातार जारी रहा है। वास्तव में, तारों का गठन अब भी हो रहा है और इसके साथ ग्रहों और उपग्रहों का सृजन भी जारी है और आने वाले अरबों सालों तक तारों का गठन जारी रहेगा।

- 'विज्ञान और वैज्ञानिक नजरिया'

पृष्ठ 56 से

प्रेतलीला का वक्त हो चला है

-अरुंधती रॉय

ये मकान है या घर? नये हिन्दुस्तान का कोई तीर्थ है या फिर प्रेतों के रहने का गोदाम? मुंबई के आल्टामाउंट रोड पर जब से एंटिला बना है, अपने भीतर एक रहस्य और खतरे को छुपाये लगातार ये सवाल छोड़े हुए है। इसके आने के बाद से चीजें काफी कुछ बदल गई हैं यहाँ। मुझे यहाँ लाने वाला दोस्त कहता है, 'ये लो, आ गया। हमारे नये बादशाह को सलाम करो।'

एंटिला भारत के सबसे अमीर आदमी मुकेश अंबानी का घर है। मैं इसके बारे में पढ़ा करती थी कि ये अब तक का सबसे महँगा घर है, जिसमें 27 माले हैं, तीन हेलीपैड, नौ लिफ्ट, झूलते हुए बागीचे, बाथरूम, वेदर रूम, जिम, छह फ्लोर की पार्किंग और 600 नौकर। लेकिन खड़े बागीचे की कल्पना तो मैंने कभी की ही नहीं थी- घास की एक विशाल दीवार जो धातु के विशालकाय जाल में अंटी हुई है। उसके कुछ हिस्सों में घास सूखी थी और तिनके नीचे गिरने से पहले ही एक आयताकार जाली में फंस जा रहे थे। कोई गंदगी नहीं। यहाँ "ट्रिकल डाउन" काम नहीं करता। हम वहाँ से निकलने लगे, तो मेरी नजर पास की एक इमारत पर लटके बोर्ड पर पड़ी, उस पर लिखा था, "बैंक ऑफ इंडिया"।

हाँ, यहाँ "ट्रिकल डाउन" तो बेकार है, लेकिन "गश अप" कारगर है। पेले जाओ। यही वजह है कि सवा अरब के देश में एक-चौथाई सकल घरेलू उत्पाद पर सबसे अमीर सौ लोगों का कब्जा है।

हिंदुस्तान में हमारे जैसे 30 करोड़ लोग, जो आर्थिक सुधारों से उपजे मध्यवर्ग यानी बाजार की पैदाइश हैं, उन द्वाइ लाख किसानों की प्रेतात्माओं के साथ रहते हैं, जिन्होंने कर्ज के बोझ तले अपनी जान दे दी। हमारे साथ चिपटे हैं उन 80 करोड़ लोगों के प्रेत, जिन्हें बेदखल कर डाला गया, जिनका सब कुछ छीन लिया गया, जो रोजाना 25 रुपये से भी कम पर जिंदा हैं ताकि हमारे लिए रास्ते बनाये जा सकें।

अकेले अंबानी की अपनी औकात 20 अरब डॉलर से भी ज्यादा की है। सैंतालीस अरब डॉलर की बाजार पूँजी वाली रिलायंस इंडस्ट्रीज लिमिटेड में उनकी मालिकाना हिस्सेदारी है। इसके अलावा दुनिया भर में इस कम्पनी के कारोबारी हित फैले हैं। आरआईएल के पास इनफोटेल् नाम की कम्पनी का 95 फीसदी हिस्सा भी है, जिसने कुछ हफ्ते पहले ही एक मीडिया समूह में बड़ी हिस्सेदारी खरीदी थी। ये मीडिया समूह समाचार और मनोरंजन

चैनल चलाता है। 4जी ब्रॉडबैंड का लाइसेंस अकेले इनफोटेल् के पास है। इसके अलावा आरआईएल के पास अपनी एक क्रिकेट टीम भी है।

आरआईएल उन मुट्ठी भर कम्पनियों में से एक है जो इस देश को चलाती हैं। इनमें कुछ खानदानी कारोबारी हैं। इसके अलावा दूसरी कम्पनियों में टाटा, जिंदल, वेदांता, मित्तल, इनफोसिस, एस्सार और दूसरी वाली रिलायंस 'एडीएजी' है जिसके मालिक मुकेश के भाई अनिल हैं। इन कम्पनियों के बीच आगे बढ़ने की होड़ अब यूरोप, मध्य एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका तक फैल चुकी है।

मसलन, टाटा की अस्सी देशों में सौ से ज्यादा कम्पनियाँ हैं। भारत में निजी क्षेत्र की बिजली कम्पनियों में टाटा सबसे बड़ी है।

"गश अप" का मंत्र किसी कारोबारी को दूसरे क्षेत्र के कारोबार में मालिकाना लेने से नहीं रोकता है, लिहाजा आपके पास जितना ज्यादा है, आप उतना ही ज्यादा और कमा सकते हैं। इस सिलसिले में हालाँकि एक के बाद एक इतने दर्दनाक घपले-घोटाले सामने आए हैं जिनसे साफ हुआ है कि कॉरपोरेशन किस तरह नेताओं को, जजों को, नौकरशाहों और यहाँ तक कि मीडिया घरानों को खरीद लेते हैं, इस लोकतंत्र को खोखला कर देते हैं। बस, कुछ रवायतें बची रह जाती हैं। बॉक्साइट, लौह अयस्क, तेल, गैस के बड़े-बड़े भंडार जिनकी कीमत खरबों डॉलर में है, कौड़ियों के मोल इन निगमों को बेच दिए गए हैं। ऐसा लगता है कि हाथ घुमाकर मुक्त बाजार का कान पकड़ने की शर्म तक नहीं बरती गई। भ्रष्ट नेताओं और निगमों के गिरोह ने इन भंडारों और इनके वास्तविक बाजार मूल्य को इतना कम कर के आंका कि जनता की अरबों की गाढ़ी कमाई इनकी जेब डकार गयी है।

इससे जो असंतोष उपजा है, उससे निपटने के लिए इन निगमों ने अपने शांतिर तरीके ईजाद किये हैं। अपने मुनाफे का एक छटांक वे अस्पतालों, शिक्षण संस्थानों और ट्रस्टों को चलाने में खर्च कर देते हैं। ये संस्थान बदले में एनजीओ, अकादमिकों, पत्रकारों, कलाकारों, फिल्मकारों, साहित्यिक आयोजनों और यहाँ तक कि विरोध प्रदर्शनों व आंदोलनों को फंडिंग करते हैं। ये दरअसल धर्मार्थ कार्य के बहाने समाज में राय कायम करने वाली ताकतों को अपने प्रभाव में लेने की कवायद है। इन्होंने रोजमर्रा के हालात में इस तरह घुसपैठ बना ली है, सहज से सहज चीजों

पर ऐसे कब्जा कर लिया है कि इन्हें चुनौती देना दरअसल खुद “यथार्थ” को चुनौती देने जैसा अजीबोगरीब (या कहें रूमानी) लगता है। इसके बाद तो इनका रास्ता बेहद आसान हो जाता है, कह सकते हैं कि इनके अलावा कोई चारा ही नहीं रह जाता।

मसलन, देश के दो सबसे बड़े चैरिटेबल ट्रस्ट टाटा चलाता है (उसने पाँच करोड़ डॉलर हारवर्ड बिजनेस स्कूल को दान में दिया)। माइनिंग, मेटल और बिजली के क्षेत्र में बड़ी हिस्सेदारी रखने वाला जिंदल समूह जिंदल ग्लोबल लॉ स्कूल चलाता है। जल्दी ही ये समूह जिंदल स्कूल ऑफ गवर्नमेंट एंड पब्लिक पॉलिसी भी खोलेगा। सॉफ्टवेयर कम्पनी इनफोसिस के मुनाफे से बना न्यू इंडिया फाउंडेशन सामाजिक विज्ञानियों को पुरस्कार और वजीफे देता है। अब ऐसा लगता है कि मार्क्स का क्रांतिकारी सर्वहारा पूँजीवाद की कब्र नहीं खोदेगा, बल्कि खुद पूँजीवाद के पगलाये महंत इस काम

को करेंगे, जिन्होंने एक विचारधारा को आस्था में तब्दील कर डाला है। ऐसा लगता है कि उन्हें सच्चाई दिखाई ही नहीं देती, सही गलत में अंतर करने की ताकत ही नहीं रह गई। मसलन, जलवायु परिवर्तन को ही लें, कितना सीधा सा विज्ञान है कि पूँजीवाद (चीन वाली वेरायटी भी) इस धरती को नष्ट कर रहा है। उन्हें ये बात समझ ही नहीं आती। “ट्रिकल डाउन” तो बेकार हो ही चुका था। अब “गश अप” की बारी है। ये संकट में है।

मुम्बई के गहराते काले आकाश पर जब सांध्य तारा उग रहा होता है, तभी एंटिला के भुतहे दरवाजे पर लिनन की करारी शर्ट में लकदक खड़खड़ाते वॉकी-टॉकी थामे दरबान नजर आते हैं। आँखें चौंधियाने वाली बत्तियाँ भभक उठती हैं। शायद, प्रेतलीला का वक्त हो चला है।

(जनपथ ब्लॉग से साभार, अनुवाद : अभिषेक श्रीवास्तव)

नाभिकीय संयंत्र विरोधी आन्दोलन का दमन उत्पीड़न— एक ज्ञापन

कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र के खिलाफ चल रहे दीर्घकालीन बहुचर्चित आन्दोलन, जिसने परमाणु सुरक्षा से जुड़े बहुत ही आवश्यक मुद्दे उठाये हैं। उसके खिलाफ सरकार के द्वारा किये जा रहे कुत्सा प्रचार से हम बहुत निराश तथा दुखी हैं। ये मुद्दे दुनिया की पहली बहुरियेक्टर दुर्घटना फुकुसिमा त्रासदी के बाद सबसे अहम मुद्दे हैं। पाँच महीनों से हजारों लोगों के विभिन्न दलों द्वारा किये जा रहे भूख हड़ताल को प्रधान मंत्री ने बिना किसी विश्वसनीय साक्ष्यों का हवाला दिये यह कहकर तुच्छ बना दिया है कि इसमें ‘विदेशी ताकतें’ काम कर रही हैं। या इसमें पश्चिमी देशों के एनजीओ का हाथ है।

यह किसी प्रतिरोध को अवैध करार देने की बढ़ती प्रवृत्ति का एक नमूना है।

अगर हम अधिकारियों और अपने बीच के वाजिब मतभेदों को केवल ‘विद्रोह’ के पीछे ‘विदेशी ताकतों का हाथ’ तक सीमित कर दें तो हमारे बीच कोई वास्तविक वैचारिक आबन्ध नहीं हो सकता और किसी भी लोकतांत्रिक बहस के द्वारा मतभेदों को दूर नहीं किया जा सकता। नाभिकीय सुरक्षा को लेकर एक बहस की अनुपस्थिति अपने आप में जीने और मरने का सवाल है और यह आम बहसों और लोकतंत्र को कमजोर ही करता है। यह देखते हुए की विदेशी दबाव के अन्तर्गत विदेशी रिएक्टर को लगाने के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया गया है और नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक को प्रभावहीन बनाने की कोशिशें हुईं, ‘विदेशी ताकतों का हाथ’ होने की दलीलें बेतुकी लगती हैं।

एक प्रतिनिधी दल, जिसमें परमाणु ऊर्जा विभाग से बाहर के अधिकारियों के अलावा सिविल सोसाइटी के प्रतिनिधी भी शामिल

हों, द्वारा कराये गये एक स्वतंत्र, सर्वांगीण और पारदर्शी सर्वेक्षण की अनुपस्थिति में यह दावा करना कि हमारा विस्तारमुखी नाभिकीय ऊर्जा कार्यक्रम दोषमुक्त है, एक खोखली दलील लगती है। हममें से कुछ लोगों ने दस महीने पहले इसके लिए आवाज उठायी थी। लेकिन सरकार ने हमारी माँग की अनदेखी की। भोपाल गैस त्रासदी में भारतीय नागरिकों के अधिकारों तथा जिन्दगी की सुरक्षा को लेकर अथाह और सतत असफलता को देखते हुए सरकार का नाभिकीय खतरे के प्रति रुख चिन्ताजनक है।

हम सरकार से आग्रह करते हैं कि वह कुडानकुलम व अन्य जगहों पर नाभिकीय संयंत्र विरोधी आन्दोलन के कार्यकर्ताओं का दमन और उत्पीड़न बन्द करे, उनके ऊपर गढ़े गये आरोपों को वापस ले और इसके अतिरिक्त वार्ता शुरू करे। जब तक लोगों के डर और चिन्ताओं का समाधान नहीं हो जाता, सभी नाभिकीय संयंत्रों के निर्माण पर रोक लगनी चाहिए। वहाँ किसी तरह से और किसी भी हालत में शक्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिए। न चाहते हुए भी लोगों पर नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र को इस तरह थोपने की परिणति एक पुलिस राज के रूप में होगी।

हस्ताक्षर : ए गोपालकृष्णन, अमित भादुड़ी, अनुराधा चिनॉय, अरुंधति राँय, आशीष नंदी, दीपक नय्यर, दीपांकर गुप्ता, ईएएस शर्मा, गैब्रिल डायट्रिक, हर्ष मंदर, जस्टिस बीजी कालसे-पाटिल, जस्टिस एस सुरेश, कुमकुम राँय, एडमिरल एल रामदास, मे. जनरल एसजी वामबटकरे, मेरी जॉन, मुकुल शर्मा, निरुपम सेन, नंदिनी सुन्दर, पीएम भार्गव, प्रशान्त भूषण, रामचन्द्र गुहा, रोमिला थापर, एसपी शुक्ला, शबनम हाशमी, सुमित सरकार, एडमिरल विष्णु भागवत, जोया हसन और अन्य कई लोग।